

प्रोफेसर रामदरश मिश्र

(सरस्वती सम्मान से सम्मानित व्यक्तित्व)
(संरक्षक)

INTERNATIONAL PEER- REVIEWED(REFEREED) JOURNAL

RNI (UPHIN/2021/80567)

साहित्य मेघ

ISSN: 2583 - 5750

(साहित्यिक हिंदी मासिक)

प्रकाशन का आरंभिक वर्ष/माह : अप्रैल २०२१

सम्पादक मण्डल

भारत

विदेश

प्रोफेसर ओमप्रकाश सिंह
opsingh@mail.jnu.ac.in
विभागाध्यक्ष भारतीय भाषा केन्द्र,
जे.एन.यू. नई दिल्ली
M:(९८९९४४६८६९)
प्रोफेसर चन्द्रदेव यादव
cyadav@jmi.ac.in
विभागाध्यक्ष हिंदी विभाग, जामिया मिल्लिया
इस्लामिया, नई दिल्ली
M: (९८९८९५८७४५)
प्रोफेसर जितेंद्र श्रीवास्तव
jksrivastava@ignou.ac.in
विभागाध्यक्ष हिंदी विभाग,
इंदिरा गांधी ओपन विश्वविद्यालय (इग्नू),
नई दिल्ली M:9818913798
प्रोफेसर राज कुमार
M:09415201281
drrajkumar@bhu.ac.in
हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रोफेसर प्रभाकर सिंह
(9450623078)
prabhakarhindi@bhu.ac.in
प्रोफेसर, हिंदी विभाग, काशी
हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रोफेसर श्रद्धा सिंह ९४९५५३०५८७
shraddha.singh@bhu.ac.in
प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
डॉ. आभा गुप्ता ठाकुर (9450960955)
abhag.hindi@bhu.ac.in
प्रोफेसर, हिंदी विभाग, काशी हिंदू
विश्वविद्यालय, वाराणसी
डॉ. गाजुला राजू (9059379268)
raju.g@allduniv.ac.in
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी एवं आधुनिक
भारतीय भाषा विभाग, इलाहाबाद
विश्वविद्यालय, प्रयागराज २११००२
डॉ. जर्नादन 9026258686
janardan@allduniv.ac.in
(सहायक प्राध्यापक)
हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
डॉ. बिजय कुमार रबिदास
bkrabidas@allduniv.ac.in
9432345604
सहायक आचार्य हिन्दी एवं आधुनिक
भारतीय भाषा विभाग, इलाहाबाद
विश्वविद्यालय, प्रयागराज २११००२

प्रोफेसर उल्फत मुहीबोवा
ulpatxon_muxibova@tsuos.uz
M:998946443037
Tashkand State
University of
Oriental Studies,
Tashkand, Uzbekistan
प्रोफेसर ग्युजेल् स्त्रेलकोवा
str@iaas.msu.ru
M: +79199933635
एशिया और अफ्रीकी देश
अध्ययन संस्थान, मास्को राजकीय
विश्वविद्यालय, मास्को
Farzaneh Azam Lotfi
f.azamlotfi@ut.ac.ir
Associate Professor
Department of foreign
languages
University of Tehran, Iran

परामर्श मण्डल

भारत

डॉ. प्रताप सहगल
(९८१०६३८५६३)
प्रो. अब्दुल बिस्मिल्लाह
(९८११३०६३३१)
डॉ. शशि सहगल
(९८९९१६६९२९)
प्रो. कृपाशंकर पाण्डेय
(९९८४५२३७०६)
प्रो. मोहन
(९८७९९५५००)
(दिल्ली विश्वविद्यालय)
प्रो. लालचंद राम
९९९००७०८९५
विभागाध्यक्ष, एन सी ई आर टी
प्रो. राम आहलाद चौधरी
(९४३२०५९५००)
(विभागाध्यक्ष कलकत्ता विश्वविद्यालय)
प्रोफेसर (पूर्व) शत्रुघ्न कुमार
shatrughnakumar@ignou.ac.in
प्रो. चंदा देवी
(८००४९२८४४९)(इला. यू.)
प्रो. रामकली सराफ
(९३८९४३२९६५)
डॉ० प्रभा पंत
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष हिंदी विभाग,
एम०बी०रा०सामाजिकविद्यालय, हल्द्वानी
dr.prabhapanant@gmail.com
प्रो. रूबी जुत्शी
कश्मीर यूनिवर्सिटी
९४९९०५८५८५

विदेश

प्रो. सरन घई
(±१ (६४७) ९९३-०३३०)
कनाडा
तेजेन्द्र शर्मा
(४४ ७४००३९३४३३)
(Uet.kesâ.)
प्रो. पुष्पिता अवस्थी
(±९९ ७०५८४-६२९५९)
(www.pushpitaawasthi.com)
नीदरलैंड
डॉ. सुरेश चंद्र शुक्ल
'शरद आलोक'
(±४७ ९००७०३९८)
(speil.nett@gmail.com)
नॉर्वे
अनुराग शर्मा
(±१ (४९२) ६९२-९३६२)
(indiasmart@gmail.com)
अमेरिका
रेखा राजवंशी
(±61 403116301)
ऑस्ट्रेलिया

प्रकाशक, मुद्रक और मालिक डॉ. मो. सलीम ने अजीम इंडिया प्रिंटर्स, अटाला, प्रयागराज (इलाहाबाद) में छपवा कर ४८३ अटाला, प्रयागराज (इलाहाबाद) से प्रकाशित किया। सम्पादक डॉ. मो. सलीम, ४८३ अटाला, प्रयागराज (इलाहाबाद) सभी मामले प्रयागराज (इलाहाबाद) की ही अदालत में होंगे।

साहित्य मेघ

sahityamegh.com
sahityamegh@gmail.com

अगस्त २०२३
रामदरश मिश्र विशेषांक

डॉ. दानिश ९६९६४८६३८६ प्रधान संपादक डॉ. तबस्सुम जहां ९८७३९०४९९० उप-संपादक (अवैतनिक)	डॉ. राजविंदर कौर ९७५९९९२४३४ सह-संपादक (अवैतनिक) श्रीमती एस.के. 'सुमन' ९९७०६८०२३५ आर्थिक सलाहकार
वार्षिक : १५००/- (भुगतान के लिये : ९६९६४८६३८६)	
आज फिर लौट आया हूँ मेरे देश	रामदरश मिश्र 4
तुम्हारी माँ कहाँ है	रामदरश मिश्र 9
रामदरश मिश्र के उपन्यास प्रतिबद्धता का सर्जनात्मक रूप	डॉ० महावीर सिंह चौहान 14
जैसा मैंने उन्हें जाना	शिवकुमार मिश्र 24
आधुनिक हिन्दी कविता में वसन्त	रामदरश मिश्र 28
वसंत का एक दिन	रामदरश मिश्र 34
रामदरश मिश्र की कथा-यात्रा	डॉ० गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव 45
रामदरश मिश्र कृत सुख दुख के राग : (‘कोविड-काल’ के दौरान दर्ज साहित्यिकी डायरी में)	डॉ वेद मित्र शुक्ल 54
मेरे अपने रामदरश जी	प्रकाश मनु 56
सरलता और विद्वता के समन्वय शिखर डा० रामदरश मिश्र	रजनीकांत एस. शाह 61
सहजता के शिल्प के अनुगायक रामदरश मिश्र	ओम निश्चल 63
भारतीय ग्राम्य संस्कृति के कवि रामदरश मिश्र	पाण्डेय शशिभूषण ‘शीतांशु’ 71
रामदरश मिश्र की कविताये	रामदरश मिश्र 76
जीवन वृत्त	83
विभिन्न विधाओं के श्रेष्ठ रचनाकार हैं रामदरश मिश्र (समाचार)	रामदरश मिश्र शताब्दी संगोष्ठी में डॉ रघुवीर चौधरी के उदगार 98
संपादकीय	दानिश 100

आज फिर लौट आया हूँ मेरे देश !

रामदरश मिश्र

मैं अपनी एक कविता के अन्तिम अंश से अपनी बात शुरू कर रहा हूँ - “तुम्हारी उपजाऊ मिट्टी में / तुम्हारे सपूतों ने बो दिये हैं / जहरीले काँटे और पत्थर / नालायक बेटे बीच-बीच में / हलों की नोक से उगाते हैं सम्बन्ध। मैंने बार-बार केवल जहरीले काँटों और पत्थरों को देखा / उनके बीच-बीच उगते सम्बन्धों को नहीं / और इस मिट्टी को कोसता हुआ उससे भागता रहा / एक अस्वीकार में सोकर / दूसरे अस्वीकार में जागता रहा / मैंने क्यों नहीं स्वीकार किया / कि मेरे लिए कोई कपड़े बुनता है / कोई छौंहे चुनता है / कोई अन्न उपजाता है / कोई कागज़ और कलम गढ़ता है / कोई समुद्र में उतरता है / कोई पहाड़ पर चढ़ता है / और मैं / सिर्फ कागज़ गोंजता हूँ / और अस्वीकार करता हूँ / और जब मैं अपने से प्रश्न करता हूँ / तब तब लौट आता हूँ / तुम्हारे पास मेरे देश / आज फिर लौट आया हूँ।”

साहित्य वास्तव में प्रश्न करना सिखाता है। यह प्रश्न कि देश के जो लोग तुम्हारे लिए इतना कुछ कर रहे हैं, तुम उनके लिए क्या कर रहे हो? हमारे देश के जो ऊँचे लोग हैं, चाहे वे नेता हों, चाहे पूँजीपति हों, चाहे दार्शनिक हों, चाहे प्रोफेसर हों, चाहे और कोई हों, उनकी निगाह कहाँ है? क्या वे इस देश के आम आदमी के सुख-दुःख की चिन्ता से ग्रस्त हैं? क्या वे उनकी भाषा का सम्मान करना जानते हैं? क्या उनकी मिट्टी का सम्मान करना जानते हैं? नहीं जानते। इसलिए आम आदमी के लिए उनकी सारी चिन्ता नकली है। साहित्यकार किसी परिभाषा के तहत, किसी 'कान्सेप्ट' के तहत साहित्य नहीं रचता है। एक बड़ा आसान - सा रास्ता है कि हम

भारतीयता पर लिखने के लिए सोच लें कि भारतीय अस्मिता के तत्त्व क्या-क्या हैं या महानगर के बारे में लिखना है तो महानगर के तत्त्व क्या-क्या हैं? साहित्य परिभाषाओं से नहीं बनता है, साहित्य बनता है एक खास जमीन के गहरे अनुभव से। आप इस देश में कहीं-न-कहीं पैदा हुए हैं, कहीं-न-कहीं जीते हैं, कहीं-न-कहीं अनुभव ग्रहण करते हैं और उस टुकड़े के माध्यम से आप अपने देश की पहचान प्राप्त करते हैं।

कहा गया है कि गाँव भारत की आत्मा हैं। मैं सौभाग्यशाली हूँ कि मैं गाँव में पैदा हुआ, गाँव मेरी जमीन रहा, गाँव मेरी जड़ रहा है और मुझे लगा कि यदि मैंने गाँव को पहचान लिया तो शायद देश को पहचान लिया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि “बिना परिचय के प्रेम कैसा?” बिना परिचय के प्रेम नहीं होता है, चाहे वह स्त्री-पुरुष का प्रेम हो, चाहे देश-प्रेम हो। गाँधीजी से जब पहले-पहल बोलने के लिए कहा गया तो उन्होंने कहा - “मैं इस देश को नहीं जानता हूँ।” उन्होंने देश को पहले जाना। उन्होंने पहले देश का भ्रमण किया और उसके सुख-दुःख के साथ उसे जाना, तब उन्हें लगा कि हाँ, वे अब कुछ बोल सकते हैं। तो बिना परिचय के प्रेम कैसा? हम साहित्यकारों को परिचय के माध्यम से अनुभव ग्रहण करना होता है। मैं गाँव में पैदा हुआ और गाँव अपने आप में क्या है, उसे जाना। मैंने कहा कि गाँव भारत देश का एक जीवन्त टुकड़ा है, एक प्रतिनिधि है। गाँव में जिन्दगी बिताकर आपको परिभाषाओं की आवश्यकता नहीं होगी। गाँव में प्रकृति, समाज तथा मनुष्य का साहचर्य भी है, संघर्ष भी है। परम्परा और नवीनता का संघर्ष है। कई

जातियाँ हैं, कई वर्ग हैं, कई सम्प्रदाय हैं। और लगता है, जैसे कि पूरे देश की उथल-पुथल, पूरे देश का अनुभव और सम्बन्ध इस गाँव में समाया हुआ है। इस गाँव में रहकर मैंने प्रकृति को पहचाना, प्रकृति के तमाम रंगों को पहचाना, सम्बन्धों को पहचाना, सम्प्रदायों को पहचाना और उनके सारे वैषम्य और साम्य का अनुभव किया।

हम देश की पहचान की बातें करते हैं। देश की पहचान में केवल हिन्दू- मुसलमान की साम्प्रदायिक एकता ही नहीं है। हमारा देश प्रकृति का देश है। यहाँ कितने-कितने रंग हैं प्रकृति के। नदियाँ हैं, मौसम हैं, ऋतुएँ हैं, ये सब देश की पहचान के अंग हैं, देश की पहचान के रंग हैं। गाँव का आदमी जानता है, वसन्त क्या होता है, शरद क्या होता है, ग्रीष्म क्या है, पावस क्या है। वह जानता है कि इन ऋतुओं का सम्बन्ध हमारे जीवन से कितना है। किसान, जो अन्न दे रहा है पूरे देश को, उस अन्न के साथ क्या सम्बन्ध है वसन्त का, पावस का, शरद का और शिशिर का। तो प्रकृति हमारे देश के लिए अन्नदा है। प्रकृति अन्न देती है और अन्न छिनती भी है और छिनकर संघर्ष करना भी सिखाती है। मैं जिस गाँव का हूँ, उस गाँव में बाढ़ आती थी, हर साल बाढ़ आती थी। लेकिन किसान बीज बोते थे - यह जानते हुए भी कि बाढ़ में बीज बह जाएगा। उनका संघर्ष कभी रुकता नहीं था। संघर्ष, जिजीविषा और उत्साह देती है प्रकृति। प्रकृति हमारे देश में विभिन्न भूमिकाएँ अदा करती रही है। प्रकृति के आँगन में हमने चिन्तन किया है धर्म का दर्शन का और अनेक ज्ञान प्राप्त किये हैं।

इस प्रकृति में हमें अन्न मिलता है, पानी मिलता है, हवा मिलती है, एक साफ- सुथरा पर्यावरण मिलता है। लेकिन एक बहुत बड़ी बात यह है कि इससे हमारा सौन्दर्य-बोध सम्पन्न होता है। आज हम प्रकृति से कट गये हैं और जो जीवन के नकली व्यापार हैं, उनमें हम सौन्दर्य देखने लगे हैं। हमारी संवेदना सूखती जा रही है, मरती जा रही है। वसन्त में हम फूलों के बीच से निकल जाते हैं और लगता है कि फूल कहीं पुकारता नहीं, हवा कहीं पुकारती नहीं है। हमारी आँखों में कोई रंग उतरता नहीं है, क्योंकि

हम प्रकृति से कट गये हैं। यह प्रकृति हमारे देश की एक पहचान रही है। शहर में भी आती है प्रकृति, गाँव में भी आती है प्रकृति। लेकिन गाँव की प्रकृति शहर की प्रकृति से भिन्न होती है। शहर में पानी नहीं बरसा तो नहीं बरसा। पानी मिल जाएगा आपको। आप जुलाई में बहुत परेशान हो रहे हैं कि बड़ी उमस हो रही है, पानी नहीं बरस रहा है। पानी बरस गया तो आपको अच्छा लगा। गाँव में पानी नहीं बरसा तो ? खेत सूख रहे हैं। खेतों में भूख उग रही है। एक अभिशप्त भविष्य चक्कर काट रहा है। और फिर पानी बरसता है तो लगता है कि जीवन बरस रहा है। और वे किसान जब नाचते-गाते हैं तो वह बनावटी नहीं होता। लगता है कि जीवन के भीतर से, अन्न के भीतर से, गन्ध के भीतर से वह खुशी फूट रही है। जाड़े में एक गरीबी, एक ठण्डक, एक उदासी-सी छापी रहती है। जैसे ही वसन्त आता है, लगता है, फसल पक रही है। गरीब से गरीब लोगों को खाने को कुछ मिल जाता है। वसन्त के आते ही चारों ओर एक सम्पन्नता का अनुभव होने लगता है।

मैं इस बात को रेखांकित करना चाहता हूँ कि प्रकृति हमारे जीवन, हमारे देश की एक पहचान रही है और हमारे आधुनिक साहित्य में प्रकृति को बहुत महत्त्व दिया गया है। मैथिलीशरण गुप्त के समय से लेकर आज तक प्रकृति के अनेक रंगों को हमारे साहित्य में उभारा गया है। कहीं किसी सन्दर्भ में, कहीं किसी सन्दर्भ में, कहीं सपाट ढंग से, कहीं मानवीकरण करके, कहीं दार्शनिक रूप में, कहीं प्रेम के सन्दर्भ में, कहीं लोक के सन्दर्भ में। आधुनिक काल में शुरू से लेकर आज तक प्रकृति के अनेक रंग दिखाई पड़ते हैं। बीच में एक वक्त आया था, जब कुछ कवियों को लगा था कि प्रकृति विमुख करती है क्रान्ति से, लेकिन फिर वही लोग आज लिख रहे हैं कविता - गाँव पर, घर पर, आस-पास पर। मेरा खयाल है कि भारतीय पहचान की ओर फिर हमारी कविता लौट रही है। मैंने उस गाँव में ही अनुभव किया कि अनेकता में एकता है, भाईचारा है। मैं ये बातें इसलिए कह रहा हूँ कि आज उन तमाम चीजों पर संकट आ गया है। हमारे देश पर या पूरे विश्व पर विश्वग्राम, संचार क्रान्ति या उपनिवेशवाद

के न जाने कितने संकट आ गये हैं। लगता है कि अब पूरा देश विश्वग्राम बनता जा रहा है, लेकिन अपनी पहचान खोता जा रहा है। उस पहचान की चिन्ता कम-से- कम साहित्यकारों को होती ही है। मैंने अनुभव किया था कि हमारे उस गाँव में एक भाईचारा रहा है। एक शेर है फैंज का -

कितने अच्छे लोग थे जिनको अपने गम से फुर्सत थी
पूछे थे अहवाल जो कोई दर्द का मारा गुज़रे था।

यह गाँव था - सबको फुर्सत थी। थोड़ी फुर्सत तो थी ही। थोड़ी फुर्सत होनी चाहिए आदमी को कि कोई जा रहा हो तो पूछे - 'आप कहाँ जा रहे हैं, आपकी क्या आवश्यकता है, बैठिए, पानी पीजिए, कुछ खाइए-पीजिए, घरवाले आपके कैसे हैं।' तो पहले गाँव में ये सब बातें थीं। मैंने उस गाँव को देखा है, जहाँ के लोग बड़े मुक्त मन से पर्व-त्योहार मनाते थे।

आज हर आदमी अपने कन्धे पर सलीब उठाये घूम रहा है। एक समय था, जब किसी की बेटी की शादी के अवसर पर दस दिन पहले से ही पट्टीदार इकट्ठा होते थे। कहते थे कि हमें क्या आज्ञा है, हम क्या ले आएँ ? यह आत्मीयता आज कहीं नहीं है। यह जो क्षरण हो रहा है, वह चिन्ता की बात है। आज भाईचारा खत्म हो रहा है। पर एक बात ध्यान देने की है कि प्रायः हमारी नजर ऊँचे लोगों पर होती है, चाहे लोग शहर के हों, चाहे गाँव के, चाहे सवाल मूल्यों का हो, चाहे सवाल संवेदनाओं का, हम प्रायः ऊँचे लोगों को ही देखते हैं। जरा नीचे देखिए, निगाह नीची कीजिए, जमीन को देखिए। इस पूरे भाईचारे के बिखराव के बीच भी जिन्दा है सम्बन्धों का अहसास। दिल्ली में मैं अनुभव करता हूँ कि रोज हमारे उत्तम नगर के डाकखाने में लाइन लगी होती है मनीऑर्डर करनेवालों की। ये कौन होते हैं ? ये मजदूर लोग होते हैं। मजदूर लोग, जिनकी माँ, बहन, पिता गाँव में हैं। वे उनके लिए कमाकर भेजते हैं। हमें याद है कि पहले के जमाने में हम लोगों के घरों के भी भाई सोचते थे- भाई के लिए, चाचा के लिए, सबके लिए। अब वे चीजें खत्म हो रही हैं। एक

तबका जरूर बचा हुआ है, जहाँ ये चीजें बाकी हैं। हम लोग उन्हें देखें तो लगेगा कि हाँ, भारतीयता यहाँ अवशिष्ट है ऊँचाई पर नहीं, निचले धरातल पर।

हमें बार-बार यहाँ या वहाँ हर जगह सामान्य लोगों को देखने की आदत डालनी चाहिए और मेरा खयाल है कि सामान्य लोग ही हमारी आशा के, हमारे मूल्यों के केन्द्र बने हुए हैं। उसी गाँव में मैंने अनुभव किया था कि हमारे उस्ताद मौलवी साहब कितने प्यार से पढ़ाते थे, कितने लाड़ से अपने शिष्यों का ध्यान रखते थे। उसी गाँव में हमारी शादी के कपड़े सिलते थे दर्जियों के यहाँ। उसी गाँव में रामलीला के रावण अल्पसंख्यक लोग बनाते थे। यह एक अनुभव है, जो मेरे भीतर आया, या जो लोग भी जीवन को देखते होंगे, उनके भीतर अनुभव के रूप में आता होगा। इस रूप में नहीं कि हमें हिन्दू-मुसलमान की एकता की बात करनी चाहिए। मैंने यह भी अनुभव किया था कि मुहर्रम के दिन हमारे मामा के दरवाजे पर 'ताशा' बजता था, वहीं 'गदका' होता था और हिन्दू बच्चे पैकर बनते थे, अब भी बनते हैं। वहाँ कोई राजनीति नहीं थी, कोई बौद्धिक योजना नहीं थी, एक सहज व्यापार था। इसलिए मैंने कहा कि जो लोग देखते हैं जिन्दगी को, जो लोग देखते हैं गाँव को, वे जो साहित्य लिखते हैं, उनमें सहज ही भारत अपने संश्लेष के साथ आता है।

एक बात ध्यान रखने की है कि चाहे हमारी संस्कृति रही हो, चाहे धर्म रहा हो, चाहे दर्शन रहा हो, उसमें एक निरन्तरता रही है, चीजें आती गयी हैं, चीजों में चीजें जुड़ती गयी हैं। चीजों को नया स्वरूप मिलता गया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने संस्कृति की पहचान बताया है कि उसमें निरन्तर एक नया रंग आता है, नया पानी आता है। उसमें नास्तिकता भी है, आस्तिकता भी है। तमाम चीजें उसमें हैं। जब हम साहित्यकार की हैसियत से बात करते हैं तो देखना पड़ेगा कि उसमें टूटन कहाँ से आ रही है। उसमें हास कहाँ से आ रहा है। उसमें आये हास को आप नज़रअन्दाज़ नहीं कर सकते। साहित्यकार अधूरी नहीं, पूरी यात्रा करता है। एक बार मेरे एक मित्र ने व्याख्यान देते हुए कहा कि द्रोणाचार्य ने एकलव्य का

अँगूठा काटा, इसलिए कि उसे अहंकार हो गया था। अँगूठा अहंकार का प्रतीक है। मैंने कहा, ऐसा नहीं है। महाभारतकार एक महाकवि है और महाकवि जीवन की तमाम क्षमताओं को, तमाम असंगतियों को पहचानता है। वह एक निष्कर्ष निकालने से पहले न जाने कितनी यात्राएँ करता है। तुलसीदास हों, वाल्मीकि हों, व्यास हों, वे तमाम अन्तर्विरोधों को पहचानते थे। आप कैसे मान लेते हैं कि व्यास ने एकलव्य का अँगूठा कटवाकर अच्छा काम किया था। ऐसा नहीं है। व्यास ने ऊँचे लोगों की सभ्यता की विसंगति को दिखाया है, द्रोण की विसंगति को दिखाया है और यह जान-बूझकर किया है। कोई भी बड़ा साहित्यकार सरलीकरण नहीं करता है।

हमारे भारतीय सम्बन्ध आज टूट रहे हैं - राजनीति या बाजारवाद के कारण। लेकिन क्या टूटन हमेशा खराब ही होती है ? सम्बन्ध है स्त्री-पुरुष का, सम्बन्ध है दलितों का और सवर्णों का। टूटन आ रही है। स्त्रियों के प्रति आधुनिक काल की दृष्टि बड़ी गहराई तक गयी है। आचार्य शुक्ल ने भारतेन्दु के बारे में लिखा है कि जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद हो रहा था, उस विच्छेद को भारतेन्दु ने पाटने की कोशिश की और जीवन को फिर साहित्य के साथ लगा दिया। उस जीवन का एक अहम हिस्सा स्त्रियाँ हैं, जो सदियों से वस्तु बनती चली आ रही हैं। आधुनिक काल ने खासतौर से स्त्रियों की ओर देखा, उनकी चिन्ता की, उनकी पढ़ाई-लिखाई, विधवा-विवाह, बाल-विवाह, प्रेम-विवाह ये तमाम बातें आधुनिक उपन्यासों व कहानियों में चित्रित हुईं। स्त्रियों के भीतर की जो चेतना है, जो ओज है, संघर्ष है उसे साहित्य उभारने लगा। मैथिलीशरण गुप्त ने 'यशोधरा' और 'साकेत' लिखने के बाद 'विष्णुप्रिया' लिखी। 'यशोधरा' और 'उर्मिला' में भी उन्होंने एक खास ढंग से उनकी ऊर्जा अभिव्यक्त की है, लेकिन 'विष्णुप्रिया' में आते-आते वे काफी उग्र हो गये हैं- 'नारी निकले तो असती है, नर यती कहा कर चल निकले।' गुप्तजी ने यह सवाल उठाया कि क्यों नारी निकले तो असती है, और नर निकले तो यती बन जाता है। चारों ओर चर्चा है कि चैतन्य महाप्रभु की जय-जयकार हो रही

है। उनका यश बढ़ रहा है। उनकी माँ कहती है- 'बढ़ता रहे यश। बहू को छोड़कर क्यों गया वह? बहू ने क्या अपराध किया था? यह कितना बड़ा सवाल है। 'क्यों गया छोड़कर?' बहू भी स्वीकार नहीं कर पाती है। कहीं उसके मन में है कि मैंने क्या किया था कि वे मुझे छोड़ गये। तो सास और बहू दोनों के मन में इस पूरी जय-जयकार, पूरे यश, पूरी ऊँचाई के खिलाफ विद्रोह का भाव उभरता है।

आगे चलकर प्रेमचन्द, यशपाल आदि ने और खास करके महिला लेखिकाओं ने नारी के जीवन का एक बहुत ही प्रामाणिक और व्यावहारिक चित्रण करने की कोशिश की है। मैं एक और बात की ओर इशारा करना चाहूँगा कि आज की नारी लेखिकाओं ने स्त्री को स्त्री के रूप में चित्रित करने की कोशिश की है। पुरुष जब उनका चित्रण करता रहा है तो कुछ मर्यादा, कुछ आदर्श की बात करता रहा है या फिर उसका उल्टा होता रहा है। लेखिकाएँ कहती हैं कि नहीं, मैं नारी हूँ। सारी भूख-प्यास, आशा-निराशा, अच्छाई-बुराई के साथ मैं एक व्यक्ति हूँ और उस व्यक्ति के रूप में ही मैं अपने को व्यक्त करूँगी।

पश्चिम के नारी-मुक्तिवाद से हमारा नारी-मुक्तिवाद कितना प्रभावित है, विचारणीय विषय है। हमारी जो भारतीय परम्परा है, भारतीय संस्कार हैं, वे कहीं-न-कहीं लेखिकाओं को संयत करते हैं। कोशिश हुई है कि नारी और पुरुष के मुक्त यौन-व्यापार को उजागर किया जाए, लेकिन ये बातें बहुत दूर तक नहीं चल पायीं। यहाँ के लोग इसकी प्रशंसा नहीं करते, इसको अच्छा नहीं मानते। जो लोग ऐसा कर रहे हैं, उनको यश नहीं मिलेगा, क्योंकि हमारे गहरे संस्कार कहीं उनके आड़े आएँगे। तो मूल चीज यह है कि हम स्त्रियों को व्यक्ति मानें। जो अधिकार पुरुषों का है, वही अधिकार उनको मिलना चाहिए। वे हमारी संगिनी हैं, हमारी दोस्त हैं, हमारे साथ चलनेवाली हैं। यह नहीं कि पुरुष में जो लम्पटता है, जो दुराचार है, वह नारी में भी आ जाए। यह नारी मुक्ति नहीं है। यह तो मुक्ति को बरगलाना हो गया, जैसा कि फिल्मों वगैरह में हो रहा है। अब सवाल यह उठता है कि स्त्री - पुरुष के सम्बन्धों की टूटन क्यों है? नारी-पुरुष के जो सम्बन्ध टूट रहे हैं, वह

क्या है, अच्छा है या बुरा है? वास्तव में यह एक मूल्य है। एक नया मूल्य है। सदियों से दलित समझी जानेवाली नारी अपने अधिकार के लिए जाग खड़ी हुई है। सम्बन्ध टूटता है तो टूटे। तलाक होता है तो हो। होना चाहिए। एक नये मूल्य के रूप में सम्बन्ध बन रहे हैं। इसी तरह से दलित हैं जो सदियों से दलित किये गये हैं, लांछित किये गये हैं, कलंकित किये गये हैं, उनके पास न आसमान था, न धरती थी। कुछ था ही नहीं। ऐसे लोग कैसे जीवित रहे?

हम यह कहते रहे हैं कि उनके साथ हमारा बड़ा अच्छा सम्बन्ध रहा है। वे हमारी बात मानते और हमारी सेवकाई कर देते रहे हैं। आज कुछ लोग कहते हैं कि वे लोग बड़े खराब हो गये हैं। हमारी बात नहीं मानते हैं, हम जाते हैं तो खाट पर से उठते नहीं हैं, नमस्कार नहीं करते हैं। यह जो सम्बन्धों की टूटन बड़े लोगों के दिमाग में दिखाई पड़ रही है, वह क्या है? वह अवमूल्य है कि मूल्य है? वास्तव में आज एक नया मूल्य उदित हो रहा है और हमें इस बात की खुशी होनी चाहिए कि हमारे बीच के वे लोग, जिनको हम आदमी समझते नहीं थे, आज आदमी का अधिकार पाने के लिए उठ खड़े हुए हैं। यह बड़ी अच्छी बात है। उनके बगैर हमारा देश अपनी सही पहचान नहीं बना सकता है। ये कुछ ऐसे सवाल हैं, जिन पर हमें बड़ी गहराई से सोचना चाहिए। हमारा जो आज का साहित्य है, वह बुनियादी सरोकारों, बुनियादी मूल्यों की रक्षा करते हुए भी नये सन्दर्भों पर चिन्तन करता है, विचार करता है और वह कहना चाहता है कि इनको इस प्रकार से देखा जाए कि एक समरसता, अनेकता में एकता, एक स्वस्थ धर्म बना रहे। सम्प्रदायवाद पर हमारे यहाँ बहुत से उपन्यास लिखे गये, बहुत-सी कहानियाँ लिखी गयीं और यह कोशिश की गयी कि हमारे देश में जो विभिन्न सम्प्रदायों के लोग हैं, उनमें एकता बनी रहे। राजनीति जो करती है, वह करे, कट्टरवाद जो करता है करे, हम क्या कर सकते हैं उसके लिए इसकी चिन्ता हमें होनी चाहिए।

लेकिन हम साहित्य का सृजन करनेवाले साहित्य में एक दिखाई पड़ते हैं। भीष्म साहनी के उपन्यास 'तमस'

के अन्त में सरदार मोहन सिंह कहता है कि 'हम सबको यहीं रहना है। जुनून सिर पर चढ़ जाए, लेकिन सच बात यह है कि हम सबको यहीं रहना है।' साहित्य हमको यही सन्देश देता है कि हमको यहीं रहना है। हम सब एक हैं। कट्टरवाद भले ही हम लोगों को बाँटता हो, लेकिन साहित्य संवेदना की चीज है, हमको जोड़ता है। हम संवेदना को घनीभूत करने के सिवा और कर क्या सकते हैं। साहित्य अगर हमारी संवेदना को घनीभूत करता है तो यह एक बड़ी बात है।

बड़ी चिन्ता की बात है कि हमारी आज की राजनीति बड़ी दूषित हो रही है और न जाने कितने खेल खेलती है। वोट के लिए, फलों के लिए, फलों के लिए फलों के लिए खेल खेलती रहती है। हमारे यहाँ एक कहावत है जिसका अर्थ है कि लक्षण एक है, चार कुलक्षण हैं तो घर की भूरी बिल्ली क्या कर लेगी। बेचारा साहित्य घर की भूरी बिल्ली है, चार जो कुलक्षण हैं, उनमें वह क्या करेगा। लेकिन साहित्यकार अपना प्रयास जारी रखेगा और वह अपने ढंग से काम करता रहेगा।

अन्त में मैं अपभ्रंश के एक दोहे का जिक्र करना चाहता हूँ, जिसका भाव यह है कि "किसी ने बड़वानल से पूछा कि भाई बड़वानल, तुम सदियों से समुद्र में जल रहे हो, तुमने क्या कर लिया?" उसने कहा- "सदियों से जल रहा हूँ समुद्र में, यह कम तो नहीं है।"



तुम्हारी माँ कहाँ है रामदरश मिश्र

“माँ, मेरी माँ कहाँ है ?”

स्कूल से लौटा छोटा बच्चा उदास-उदास-सा अपनी माँ के पास आया और लिपट गया।

“ट्वाट ब्वाय, तू क्या बोलता है ? हम तुम्हारी मम्मी है। और देखो डियर, गन्दे बच्चों की तरह माँ-माँ नहीं करते, मम्मा या मम्मी कहते हैं।”

“नहीं माँ, मेरी माँ कहाँ है ?” बच्चा सुबकने लगा।

“ओह डियर, तुमको क्या हो गया है ? हम तुम्हारा मम्मी है।” कहकर माँ ने आया को पुकारा, “देखो, बेबी को ले जाओ, हाथ-मुँह धुलाओ और नाश्ता दो!” फिर उसने बच्चे को अपने से थोड़ा दूर करके साड़ी की क्रीज़ ठीक की, जूड़े पर हाथ फेरा, सेंटेड रुमाल निकालकर धीरे-धीरे रूजभरे गालों पर फिराया।

आया आई, लेकिन बच्चा उसके साथ नहीं आया, बस्ता पटककर ज़िद के साथ खड़ा रहा और माँ से बोला, “नहीं माँ, ठीक-ठीक बोलो, तुम्हीं मेरी माँ हो? आज हमारे स्कूल में एक स्पीकर आये थे, कह रहे थे कि तुम लोगों की माताएँ तो गाँवों में हैं, खेतों में काम करती हैं, पत्थर तोड़ती हैं, लोहा पीटती हैं, और भूखों मरती हैं- पैदा होते ही उनकी संतानें उनसे छिन ली जाती हैं, और सात समुन्द्र पार बैठी हुई एक अँग्रेज़ औरत के इशारे पर ये औरतें-जिन्हें तुम लोग माताएँ समझते हो-तुम्हें असली माता को भूल जाने की शिक्षा देती हैं। वास्वत में

ये माताएँ नहीं आयाएँ हैं- जो उस अँग्रेज़ महिला की सेवा के लिए तुम लोगों को तैयार करती हैं। वह अँग्रेज़ महिला इन आयाओं और तुम सबकी मालकिन है। बच्चों ! जानते हो, वह कौन है ? - अँग्रेज़ी !”

“ह्वाट नॉनसेंस ! दीज स्टुपिड हिन्दीवालाज़ ऑलवेज टॉक समथिंग वेरी फनी। आइ एम योर मम्मी बेबी !”

“नहीं-नहीं, वे कह रहे थे कि तुम लोग तो आयाएँ हो, और आया बनने में बहुत बड़े सम्मान का अनुभव करती हो।”

“ओह गॉड, तुम्हारे प्रिंसिपल साहब ऐसे-ऐसे रस्टिक लोगों को बोलने के लिए कैसे एलाउ करते हैं ! तुम्हारे स्कूल में ये हिन्दी-फिन्दी वाले कैसे बोलने चले आते हैं? हम अपने बच्चों को इन स्कूलों में इतनी लम्बी-लम्बी फीस देकर इसलिए पढ़ाता है कि ये बच्चे देशी लोगों और देशी भाषाओं की गन्दगी से बचे रहे। इसके लिए हम लम्बा-चौड़ा डोनेशन भी देता है, क्या यह सब सीखने के लिए कल हम तुम्हारे प्रिंसिपल से पूछता है कि यह सब क्या हो रहा है।”

तब तक उसी स्कूल की बड़ी क्लास में पढ़ने वाला-पड़ोसी लडका एक इंगलिश गीत गुनगुनाता हुआ वहाँ आ पहुँचा, “आई लव यू, एण्ड यू लव मी।”

“अरे मुकी, तुम्हारे स्कूल में आज यह कौन हिन्दीवाला गाली बक गया? और तुम्हारे प्रिंसिपल साहब ने इस हिन्दीवाला को बोलने के लिए कैसे बुला लिए था?

और बुला भी लिया तो निकाल क्यों नहीं दिया?"

"ओह आँटी, वह हिन्दीवाला नहीं था, वह कोई रूसी स्कॉलर था, और यहाँ एम्बेसी में कल्चरल अटैची है। प्रिंसिपल ने किसी खास 'परपज़' से बुलाया होगा ! उन्हें क्या मालूम था-वह स्कूल में आकर हिन्दी-हिन्दी चिल्लाने लगेगा। आँटी, वह कितनी बढ़िया हिन्दी बोलता था। उससे लड़कों ने चिल्लाकर कहा 'अंग्रेजी में बोलो।' तो बोला- 'मुझे या तो रूसी आती है, या हिन्दी। हमारे देश का कोई भी नागरिक अंग्रेजी नहीं बोलता- जानता है तो भी नहीं बोलता। अंग्रेजी बोलने में वह शर्म और अपमान अनुभव करता है।' आँटी, वह कहता था कि तुम लोग अमरबेल हो जिसकी अपनी जड़ें नहीं होतीं, जो पेड़ों पर फैलकर उनका रस चूस-चूसकर हरी होती रहती हैं, अपनी जमीन से उसका कोई वास्ता नहीं होता।"

"ढाट अमरबेल मुकी ?"

"अमरबेल नहीं जानतीं आप आँटी ? इसे अंग्रेजी में डाडर कहते हैं।"

"ओ, आई सी, दैट ब्लडी प्लांट ?"

"हाँ, आँटी, वह भी उसे ब्लडी प्लांट ही कह रहा था।"

"सॉरी ब्वाय, वह ब्लडी प्लांट नहीं है, आइडियल प्लांट है !"

"हाँ आँटी, वह भी कह रहा था कि वह प्लांट, तुम्हारे वर्ग का आइडियल प्लांट है।"

"ओह नो-नो ब्वाय, लीव दिस अनवांटेड रेफरेन्स-एण्ड लेट दैट रशन स्कॉलर गो टू हेल ! एण्ड यू गो टू स्वीटी, शी माइट बी वेटिंग फॉर यू।"

"आल राइट आँटी।" कहकर मुकी मस्ती से गाता हुआ स्वीटी की ओर चल पड़ा..... "आइ लव यू एण्ड यू लव मी....." अन्दर जाकर अपने हिप्पी-कट बालों को एक झटका देकर पुकरा- "स्वी.... टी !"

"हल्लो मुकी", स्वीटी की आवाज़ थी, और मुकी सीटी बजाता हुआ अन्दर जा पहुँचा, और जाकर ग्रामोफोन पर एक इंगलिश रेकार्ड लगा दिया और दोनों रेकार्ड की धुन पर अलमस्त होकर टिवस्ट करने लगे।

छोटा लड़का नाश्ता करने के बाद वहाँ आ गया और अपनी बहन से पूछने लगा, "जीजी मेरी माँ कहाँ है ?"

मुकी हँसने लगा, और स्वीटी ने डाँटते हुए कहा, "यू कण्ट्री ब्वाय, कांट यू प्रोनाउन्स सिस्टर ऑर स्वीटी? जीजी.... यह जीजी क्या होता है? और ऐसा उलटा-पुलटा सवाल क्यों पूछता है बाबा? मम्मी तो अपने घर पर ही है....!"

मुकी ने हँसते हुए स्कूल में घटी घटना बता दी, और उसके साथ स्वीटी भी हँसने लगी फिर दोनों रेकार्ड की धुन पर कमर और सिर हिला-हिलाकर टिवस्ट करने लगे और वह लड़का उदास-सा दूसरी ओर भटक गया।

और ऐसे ही तमाम छोटे-छोटे बच्चे अपनी असली माँ से कटे हुए देश में भटक रहे हैं। वे पैदा होते ही सौंप दिये जाते हैं एक अप-टू-डेट आया के हाथ, जो पाल-पोसकर उन्हें समझाती है कि तुम देशी नहीं, विदेशी बच्चे हो ! लेकिन यह लड़का विदेश का पूरा रंग चढ़ने के पहले ही अपनी माँ की पूछताछ करने लगा। यही तो इसकी बेचैनी है, यही तो इसके भटकाव का कारण है।

उस रूसी विद्वान ने कहा था कि तुम्हारी माँ तो भारत के गाँवों में है, शहरों के कारखानों में है- खेतों में काम करती हुई। पत्थर तोड़ती हुई, मिट्टी की हँसी हँसती हुई, मिट्टी की व्यथा रोती हुई मिट्टी की ताकत उसकी ताकत है-वही अन्न पैदा करती है, जिसे तुम लोग खाते हो; और वही वस्त्र बुनती है, जिसे तुम लोग पहनते हो, वही वे सारे सामान बनाती है, जिसे तुम लोग काम में लाते हो और जिससे अपने को सजाते हो। लेकिन तुम लोग उसे नहीं जानते। अंग्रेज़ी के आदेश पर ये आयाएँ तुम्हें सिखाती हैं कि तुम लोग उसे भूल जाओ; और तुम

भूलते ही नहीं, उसका मजाक भी उड़ाते हो, उसे गाली देते हो; कोशिश करते हो कि वह भूखी मरती रहे। कितना अभागा होता है वह बच्चा, जो मातृविहीन होता है; और उससे भी अभागा वह बच्चा होता है जो माँ के जीवित होते हुए भी उससे वंचित होता है; और उससे भी अभागा वह होता है, जो दूसरे की माँ को माँ समझकर, अपनी माँ के होने का अहसास ही नहीं कर पाता। तुम लोग अभी नशे में हो; जब कभी नशा टूटेगा और कभी वापस लौटोगे तो मालूम पड़ेगा कि तुमने और तुम्हारे देश ने कितना खोया है! गुलामी चाहे शारीरिक हो, चाहे मानसिक उसमें आदमी विकास नहीं कर सकता। यह सच है कि तुम्हारा देश आज़ाद हो गया है, लेकिन तुम्हारा मन अभी आज़ाद नहीं हुआ है वह अभी अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ियत की दासता से बुरी तरह जकड़ा हुआ है।

कितना सच कहा था, उस विद्वान ने! इसीलिए सारे समाजवादी देशों ने और अन्य बहुत-से देशों ने भी आज़ादी के साथ-साथ भाषा के प्रश्न को अपरिहार्य भाव से जोड़ रखा है। भाषा की आजादी के बिना, देश की आजादी की कल्पना भी नहीं की जा सकती। भाषा केवल अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं- वह हमारे चरित्र का एक अंग है, वह हमारी अनुभूति हमारी चिन्तना और हमारे जीवन-संघर्ष में रची-बसी होती है। वह अपने साहित्य में, देश की आत्मीयता का रस और अपनी मिट्टी की ऊर्जा संजोए रहती है इसीलिए जो व्यक्ति अपनी भाषा से जुड़ता है, स्वभावतः उसका चरित्र देश के संदर्भ में निर्मित होता है। वह भाषा हमें अपने में निहित देश की धरती की गंध, ऊर्जा, सांस्कृतिक परंपरा, तत्कालीन जन-जीवन की सारी खुरदरी और स्निग्ध चेतना से जोड़ती है, और हमें एक राष्ट्रीय चरित्र प्रदान करती है। आज राष्ट्रीय चेतना से जोड़ने वाली इन भारतीय भाषाओं को गंवारू, मटमैली मानकर उपेक्षा की जाती है, राष्ट्रीयता की बुनियाद के बिना ही एक अरूप अन्तर्राष्ट्रीय या सार्वभौम चेतना का स्वांग भरने वाली अंग्रेज़ी की पूजा होती है। अंग्रेज़ी का फटा ढोल देशवासियों के गले में लटका दिया जाता है! जो लोग इस ढोल को अप्रासंगिक और अनावश्यक बोझ

समझकर बजाने से इनकार करते हैं, उनके लिए मान लिया जाता है कि उनकी अन्तर्राष्ट्रीय चेतना की खिड़की नहीं खुली है और वे इस देश में बसने लायक नहीं हैं।

किन्तु चेतना और सभ्यता की बातें तो ऊपरी हैं, इन चेहरों के पीछे जो असली चेहरा है, वह है पैसे का चेहरा ! एक विशेष सुविधाजीवी वर्ग का विकृत आर्थिक चेहरा सभ्यता और अंतर्राष्ट्रीय चेतना के नकली चेहरे से ढका है। अंग्रेज़ी कुछ गिने-चुने लोगों को पद देती है, और पैसा देती है। वर्तमान भारतीय समाज- व्यवस्था में रुतबा तो देती ही है किन्तु रुतबा तो अमूर्त वस्तु है; मूर्त और ठोस वस्तु तो है पद और पैसा! और अन्ततोगत्वा पद का भी सम्बन्ध अधिकार और अधिकार का सम्बन्ध पैसे ही से होता है। राष्ट्रीय चरित्र से हीन और अभी भी दास मानसिकता वाला एक वर्ग यह जानता जरूर है कि अंग्रेज़ी में फिसलते रहने से, और अंग्रेज़ी चाल-ढाल में ढलकर सामान्य जन से कटकर जीते रहने से फिलहाल गौरव तो प्राप्त होता है; किन्तु वह गौरव एक दिन में समाप्त हो जाए, उसकी सारी अभिजात संस्कृति और सभ्यता, नफासत और हवाई बड़प्पन का चोगा एक क्षण में सरककर उसे नंगा और निःसत्व कर दे यदि अंग्रेज़ी के द्वारा प्राप्त होने वाली सुविधाएँ और समृद्धि उसे प्राप्त न हों। अंग्रेज़ी के आग्रह के पीछे कुछ लोगों की यह सुविधाभोगी और अर्थमूलक चेतना है और इस चेतना को बेशर्मा से जिलाने का प्रयत्न करती रहती है-अपने को समाजवादी कहने वाली सरकार, जनवादी कहे जाने वाले नेता और राष्ट्रीय शिक्षा का झूठा दम भरने वाले शिक्षाशास्त्री। अंग्रेज़ी के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय ज्ञान, सभ्यता और चेतना की खिड़की खोलने के पीछे सुविधाजीवी वर्ग का एक विराट और कुत्सित षड्यंत्र काम कर रहा है और इस षड्यंत्र में शामिल हैं मंत्री, नेता, उच्च व्यवसायी, उच्च सरकारी अफसर और छोटे-बड़े शिक्षाशास्त्री। और विडम्बना यह है कि मंच पर भारतीय भाषाओं के हित का ढिंढोरा पीटने वाले भारतीय भाषाओं के शिक्षक भी व्यवहार में अंग्रेज़ी की हिमायत ही नहीं करते, अपने बच्चों की चाल-ढाल को भी अंग्रेज़ियत में सराबोर करने की चेष्टा करते रहते हैं, ताकि वे तो

भारतीय भाषाओं के नेता बनकर कमायें, और बेटा अँग्रेजी अफसर होकर पद और धन लाभ करे। यह दोहरा चेहरा केवल भाषा के ही क्षेत्र में नहीं है समस्त राष्ट्रीय समस्याओं के क्षेत्र में है। इसलिए पूरा देश, बड़ी- बड़ी जनवादी घोषणाओं के बावजूद, निरन्तर समस्याओं में उलझता ही जा रहा है।

अंग्रेजी विशेष वर्ग को पद और पैसा देती है, इसीलिए इस वर्ग ने (जो सरकार में हैं, प्रभावशाली उच्च समाज में हैं) अंग्रेजी के ज्ञान को ही प्रतिभा या मेधा का पर्याय मान लिया है। यदि एक क्षण के लिए इसे मेधा का पर्याय मान लिया जाए, तो सामाजिक समानता का डंका पीटने वाली इस समाजवादी सरकार से पूछा जा सकता है कि उसने देहातों में इस मेधा यानी अँग्रेजी-शिक्षा और वातावरण की निर्मित का क्या प्रयत्न किया है, और खेती-बारी, धूल- कीचड़, गरीबी और अभाव में पलकर पढ़ने वाले देहाती वातावरण के बच्चों को शहरी स्कूलों के निकट, और शहर के सामान्य स्कूलों को शहर के पब्लिक स्कूलों के निकट लाने का प्रयत्न किया है? देश के इतने बड़े देहाती क्षेत्र ने क्या अपराध किया है, कि उसे अंग्रेजी ज्ञान वाली मेधा के वरदान से वंचित किया जा रहा है! सरकार, सुविधाओं और वातावरण की इतनी भयानक असमानता के होते हुए भी, प्रतियोगिताओं में दोनों के अँग्रेजी ज्ञान का समान स्तर कैसे पाना चाहती है? क्या यह सरकार आई.ए.एस., पी.सी.एस. आदि प्रतियोगी परीक्षाओं में इंग्लिश को मेधा का पर्याय बनाकर, निहायत बेशर्मी के साथ इतने बड़े देश की विराट् किसान-मजदूर जनता का खुलेआम अपमान नहीं कर रही है? क्या यह उसका कुत्सित षड्यंत्र नहीं है कि अधिकांश किसानों और मजदूरों के बेटे नौकरी में चपरासी, क्लर्क, प्राइमरी, या मिडिल स्कूल के शिक्षक, सिपाही, पहरेदार बनकर रह जायें; और कलक्टर, कमिश्नर, राजदूत, राज्यपाल, सेक्रेटरी आदि अनेक उच्च पदों पर वे बच्चे आसीन हों, जिनमें से अधिकांश को यह नहीं मालूम कि त्रिवेन्द्रम कहाँ है, उड़ीसा कहाँ है, विवेकानंद कौन थे, हमारा रक्षा मंत्री कौन है, हमारे भारतीय पर्व कौन-कौन हैं, कौन-कौन हमारे

सांस्कृतिक और साहित्यिक नेता हुए हैं और गाँव का वास्तविक जीवन क्या है, 'कामसूत्र' के वात्स्यायन और 'शेखर : एक जीवनी' के वात्स्यायन एक ही व्यक्ति हैं या दो हैं? लेकिन नहीं, अँग्रेजी को मेधा का पर्याय मानना, झूठ और न्यस्त स्वार्थ वाले वर्गों का कुत्सित षड्यंत्र है। मेधा रचनात्मक होती है, और रचनात्मकता का सम्बन्ध अपनी भाषा और परिवेश से होता है - वह दूसरों की भाषा, साहित्य और जीवन-पद्धतियों की नकल से नहीं आती। अँग्रेजी, यदि ज्ञान मात्र देती, तो भी ग़नीमत थी ! वह हमें अंग्रेजियत देती है, हमें अपने परिवेश और परम्परा से कटना ही नहीं, उनका मज़ाक उड़ाना सिखाती है; वह अपने परिवेश की मिट्टी से अपने देश के अनुकूल नयी रचना करने के स्थान पर बने बनाये विदेशी माल का आयात करना सिखाती है; और आयात पर कोई टैक्स नहीं लगता, इसलिए वह माल अप्रतिबंधित रूप से बाजार में आता रहता है। कितने शर्म और दुख की बात है कि जब अनेक देश अपनी-अपनी भाषाओं के माध्यम से सोचने-विचारने और नयी रचना की शक्ति का अप्रतिहत भाव से विकास कर रहे हैं; तब हमारे देश में भारतीय भाषाओं को सोच-विचार और रचना में बाधक मानकर उनके समर्थकों को हीन और हेय दृष्टि से देखा जाता है। हिन्दी में शोध ग्रंथ तथा एम.ए. का प्रश्न-पत्र लिखने वाले अन्य विषयों के छात्रों को दंडित होना पड़ता है। जब एक ओर इस तरह के लोग अपनी भाषा के माध्यम से देश की रचनात्मक शक्ति के विकास के लिए जूझ रहे हैं, तब दूसरी ओर अँग्रेजी के दत्तक पुत्र लोग शीशे के कमरे में बैठकर पद और पैसे का उपयोग कर रहे हैं, और खिड़की से झाँककर, राह चलने वाली देशी गंवार जनता के सिर पर मुस्कराकर थूक देते हैं, और थूकने के बाद भी सभ्य और सुसंस्कृत होने का अपना गौरव अक्षुण्ण रखते हैं।

मेधा या प्रतिभा क्या है ? आज भारत छब्बीस वर्षों में भी इसकी सही परिभाषा नहीं बना सका इसलिए एक छोटा-सा वर्ग असली प्रतिभा का उपहास कर: अपने प्रतिभा-भास के सहारे विशाल जनसमूह का अपमान करता चला आ रहा है। प्रतियोगी परीक्षाओं में ओठ बना-बनाकर

बोली जाती हुई अंग्रेज़ी-और उसके साथ-साथ मुँह खोलने, बाल और टाई ठीक करने, चम्मच और काँटा उठाने, आँख मिचकाने, बात-बात में थैंक्स और सॉरी कहने की अदा प्रतिभा का प्रतीक बन गयी है, यहाँ तक कि फौजी प्रतियोगिताएँ भी इस अदाकारी से मुक्त नहीं हो सकी हैं। प्रतियोगी की शारीरिक और मानसिक शक्ति कितनी है, संकट के समय वह क्या सोचता है, उनसे मुक्त होने या जूझने के लिए उसके मस्तिष्क में क्या योजनाएँ उगती हैं, उन्हें कैसे क्रियान्वित किया जा सकता है, देश की ज़मीन के प्रति उसका अनुराग कितना झूठा या सच्चा है, अपने इतिहास-भूगोल और वर्तमान जीवन-यथार्थ का उसे कितना ज्ञान है, वह युद्ध की प्रणालियों से कितना परिचित है- आदि बातों से ही उसकी मेधा की पहचान हो सकती है, और फिर कितनी विचित्र बात है कि जीवन में अनेक संकटों से निरन्तर जूझते रहने वाले संकट झेलने के अयोग्य, और शीशों के कमरों में से ताजा-ताज़ा निकले हुए अंग्रेज़ी कुमार लोग योग्य मान लिए जाते हैं।

अजीब विडम्बना है कि अंग्रेज़ी के माध्यम से पालित पोषित और शिक्षित बालकों में अधिकांश का सम्बन्ध नगरों और विदेशी जीवन-पद्धतियों से होता है, उन्हें शुरू से ही देशीपन की उपेक्षा करना सिखाया जाता है। वे ही अंग्रेज़ी की बैसाखी के सहारे जब जनता के अफसर बनते हैं, तो जनता के साथ उनका कितना लगाव हो सकता है- इसे समझा जा सकता है। गाँव और सामान्य जनता को सुनाना और घृणा करना ही इनका चरित्र होता है। वे गाँवों की जनता के दुख- दर्द को समझने के स्थान पर उसका मजाक उड़ाते हैं, और बड़े बने रहते हैं। आखिर इस देश में यह सब कब तक चलता रहेगा? जनता के नाम की माला जपने वाले वामपंथी भी तो इस प्रश्न पर नहीं सोचते। जब रूसी स्कॉलर इस देश आकर इस देश की असली माँ की तलाश करता है, तब हमारे देशी साम्यवादी, देश-विदेश दोनों में अपनी विदेशी माँ या मालकिन का आँचल पकड़े घूमते हैं, इस देश के वामपंथी हों या दक्षिणपंथी, इस क्षेत्र में सबके चेहरे एक-से हैं और अन्य देशों के स्वभाषा-प्रेम को देखते हुए भी उनके बीच भी वे

बेशर्मी से अपनी भाषा की उपेक्षा करते रहते हैं।

‘तुम्हारी माँ कहाँ है?’ पूछता है एक रूसी, एक चेक, एक चीनी, एक जापानी, एक जर्मन, एक फ्रेंच और हमारा देशभक्त अंग्रेज़ी की ओर इशारा करके कहता है, ‘ये रहीं मेरी मम्मी!’ और दाँत निपोर देता है। और वह विदेशी हँसता हुआ कहता है।

नहीं, यह तुम्हारी माँ नहीं है, यह तो विदेशी मालकिन है ! तुम्हारी माँ तो खेतों में काम कर रही है, कारखानों में कोयला झोंक रही है, वह सुबह की लाली और सावन की हरियाली उगा रही है, वह गीतांजलि और गोदान लिख रही है; वह टिवस्ट नहीं - गर्बा, भाँगड़ा, भरतनाट्यम, कथकली नाच रही है; वह पहाड़ों, जंगलों और समुद्रों के सौन्दर्य लिख रही है, ऊसरों और रेगिस्तानों की उजाड़ गाथा सुन रही है, वह भूख और बेकारी से घायल लोगों का दर्द गा रही है, वह कोटि-कोटि उठी हुई बाँहों के समवेत संघर्ष की अटूट जिजीविषा चित्रित कर रही है.....

‘नहीं-नहीं, यह गँवार देशी औरत मेरी माँ नहीं हो सकती!’ हमारा देशभक्त बेशर्मी से चिल्लाता है, और वह विदेशी - उपहास और करुणा भरी हँसी हँस देता है।

‘माँ, मेरी माँ कहाँ है?’ वह बच्चा फिर लौट आया है और अपनी मम्मी से पूछ रहा है लेकिन उसे उत्तर नहीं मिलता, उसके स्वर में दर्द है और आँखों में असीम भटकाव.....।



रामदरश मिश्र के उपन्यास प्रतिबद्धता का सर्जनात्मक रूप

डॉ० महावीर सिंह चौहान

मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण और दामन पर आयोजित वर्तमान व्यवस्था के अमानवीय रूप को, उसके दुश्चक्र में फँसे आदमी की करुण विवशता और असन्तोष को, उसको लेकर निहित स्वार्थी और परिवर्तन कामी शक्तियों के बीच चलने वाले संघर्ष को, आज की ठोस सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सच्चाइयों के बीच रखकर परिभाषित करने वाले रामदरश मिश्र के उपन्यास साक्षात्कार के एक निजी और आत्मीय संसार की पहचान कराते हैं समकालीन कथा साहित्य में रामदरश मिश्र ने मूलतः एक आंचलिक उपन्यास के रूप में अपनी पहचान बनाई है। लेकिन आंचलिकता उनके अनुभव और अन्वेषण की मर्यादा नहीं, दिशा है। 'बीच का समय और 'रात का सफर' में आंचलिकता का आग्रह नहीं है। 'आकाश की छत' में शहर और गाँव के जीवन, अनुभव की दूरियाँ समाप्त हो गई हैं। लेकिन मिश्र जी अपनी यात्रा जीवन के किसी भी बिन्दु से क्यों न शुरू करें वह चाहे व्यक्ति मन की नितान्त निजी सम्बन्धों की अंतरंग दुनिया हो या मनुष्यता के न्याय के लिए चलने वाला समष्टिगत संघर्ष हो- उनके पैर हमेशा अपने अनुभव की ज़मीन पर ही रहते हैं और उनके अनुभव की ज़मीन है गाँव का वह जीवन जिससे रस कण खींचकर उनका रचनाकार अपनी कथाकृतियों की अन्तर्वस्तु का निर्माण करता है, अपनी अभिव्यक्ति के आवश्यक उपकरण जुटाता है।

'पानी के प्राचीर' 'जल टूटता हुआ' और 'सूखता हुआ तालाब' में तो मुख्यतः गाँव के यथार्थ का चित्रण हुआ है, लेकिन उनके जिन उपन्यासों का सीधा संबंध शहरी जीवन से है, उनके मुख्य पात्र भी अनुभव और

सोच के धरातल पर हलके या गहरे रूप में गाँव से जुड़े होते हैं। उनमें या तो गाँव की धरती से कट जाने की पीड़ा है या फिर गाँव की जड़ता और रूढ़िवादिता से मुक्त होने की छटपटाहट। ये शहर में रहकर भी शहर से नहीं जुड़ पाते। उनकी आन्तरिक ज़रूरत के रूप में गाँव उनकी स्मृतियों में बार-बार उभरता रहता है। यह नहीं की गाँव की ये स्मृतियाँ मधुर और आह्लादक ही हों, उनमें भावना की अन्तरगता और मार्मिक सम्बन्धों की उष्मा ही हो, वे वहाँ की जिन्दगी की अत्यधिक क्रूर और अमानवीय स्थितियों की पीड़ा-जनक यादें भी हो सकती हैं। लेकिन हर हालत के गाँव के जीवन की मिठास या कटुता उनके अनुभव का अंग बनी रहती है। वह उनके विचार और कर्म को, स्वप्न और संघर्ष को दूर तक प्रभावित करती हैं मिश्र जी की रचना-शीलता और उनके विवेक की जड़ें उनके इसी अनुभव की जमीन में हैं।

'बीच का समय' मूलतः रूमानी संवेदना का उपन्यास है। इसमें स्त्री-पुरुष के उस आदिम आकर्षण का वर्णन है, जिसमें स्वप्न और भावना के हलके गहरे रंग आपस में घुल-मिलकर एक सप्तरंगी संसार की रचना करते हैं कथानायक जो एक स्थानीय कॉलेज में अंग्रेजी का अध्यापक है, जो अब तक अपने इसी मधुर स्वप्न की चरितार्थता के लिए बेचैनी से भटकता रहा था, उसके जीवन में रीता आती है। "यह अपनी असफल शादी की पीड़ा लिए बहुत दिनों से यह चाहता रहा कि रीता जैसी कोई लड़की उसके जीवन में आए। चाहे वह रीता हो या सीता हो या गीता हो और उसकी इस कसी हुई उजाड़ जिन्दगी में जीने की चाह पैदा करे।"¹ लेकिन गाँव से एक पत्र आता है, और कथानायक

शील के सोच की दिशा बदल जाता है। यह इस रंगीन स्वप्निल दुनिया को छोड़ कर गाँव की उसी बदरंग दुनिया में लौट जाता है - इस संकल्प के साथ कि "वह घर जाएगा और परिवार लाएगा। चाहे जैसा भी है, अपना परिवार है।"³ गाँव की बदसूरती पर जिसमें उसकी पत्नी की बदसूरती और फूहड़पन भी शामिल है - वह कुढ़ता है, वहाँ से दो दिन में ही भाग खड़ा होता है।³ लेकिन वहाँ की "एक मासूम आर्द्रता से कम्पित झुकती हुई शाम"⁴ उसकी चेतना में जैसे सदा सर्वदा के लिए अटकी रह जाती है। गाँव के यथार्थ की यह विचलनकारी चेतना जो व्यंजना के स्तर पर कथानायक की स्मृतियों में बार-बार उभरती रहती है उसकी भोगवादी सौन्दर्य लालसा और भावुकतापूर्ण निर्णयों के लिए कोई अवकाश नहीं छोड़ती।

'रात का सफर' में नारी जीवन की विडम्बनापूर्ण स्थिति का जिस संवेदनात्मक उद्देश्य को लेकर निरूपण हुआ है, उसके रहते कथाकृति में जैसे एक ही अनुभव बिन्दु अपनी रचनात्मक व्याप्ति और विस्तार ग्रहण करता चलता है। उसमें ऋतु की जिन्दगी से गहरे रूप में जुड़े उसकी आंतरिक पीड़ा को उजागर करने वाली, वस्तुस्थितियों के सिवा अन्य बातों की ओर लेखक का ध्यान नहीं गया, लेकिन फिर भी ऋतु की जीवन यात्रा की पृष्ठभूमि के रूप में गाँव आ गया है। वह कभी रेलगाड़ी की खिड़की से झाँककर देहाती स्टेशन के सञ्जाटे के साथ अपने जीवन के अकेलेपन की पीड़ा का तादात्म्य स्थापित करती है : या फिर गाँव से आने वाले लोगों को देखकर उनके साथ गहरी आत्मीयता का अनुभव करती हुई कुछ क्षणों के लिए ही सही अपनी पीड़ा से निजात पा लेती है। "सबेरे सबेरे सड़क के सिर पर तरह-तरह की चीजों का बोझा लादे औरतें और मर्द शहर की ओर भागते नजर आते, इसमें छोटे-छोटे बच्चे भी होते, पसीने से लथपथ हाँफते हुए लोग, और उन्हें देखकर मुझे बड़ा अपनापा महसूस होता।"⁵

'अपने लोग' प्रत्यक्षतः कस्बाई जिन्दगी की उन भीतरी पर्तों को खोलता है, जिनमें से उसकी टुच्ची राजनीति, अन्धी स्वार्थपरता, घिनौनी अवसरवादिता, धन और प्रतिष्ठा के लिए एक-दूसरे का गला काटकर आगे बढ़ जाने की प्रतिद्वन्द्विता, निहित स्वार्थों का अपने हितों की रक्षा के

लिए अनैतिक और नाज़ायज तरीके अपनाने की पैतरेबाजी और जिसे मुक्तिबोध ने 'मारो खाओ, हाथ न आओ, वाली उक्ति से चरितार्थ किया है - उससे जन्मी सामाजिक क्रूरता और आन्तरिक रिक्तता का अत्यधिक भयावह रूप उभर कर सामने आता है। लेकिन इस उपन्यास की केन्द्रीय संवेदना गाँव की उस टूटी-बिखरी जिन्दगी की पीड़ा से उद्भूत है, जिसके साथ लेखक की गहरी रचनात्मक सम्पत्ति तो है ही, साथ ही उस जिन्दगी के यथार्थ को पहचानने वाली वह निर्मम तटस्थता भी है जो गहरे आत्मावलोचन एवं विचार तथा संवेदन की गहरी संसक्ति से जन्म लेती है। 'अपने लोग' के कथानायक प्रमोद की अन्तः चेतना में गाँव के विविध स्तरीय जीवन की छवि अपनी समग्र ताज़गी और जीवन्तता के साथ अंकित है। "उससे इस गाँव को इतनी गहराई से और इतने अधिक रूपों में जिया है कि इतने दिन तक शहर में रहने के बाद भी वह गाँव उसके भीतर बड़ी तड़प के साथ जिन्दा है। या हो सकता है कि बाहर रहने की वजह से ही जिन्दा है। पहर भर रात रहते ही हलचल शुरू हो जाती है - कुएँ पर पानी भरे जाने की आहट, नांद में मुँह डालकर बैलों के सानी-पानी सुकड़ने की आवाजें, हलवाहों के आने-जाने की आवाजें, फिर बैलों की घंटियों की आवाजें, खेतों में हलों की धड़कनें, बीया और हेंगा के लिए पुकार लगाती आवाजें और एक घण्टा दिन चढ़ने के साथ किसी खेत के जुत बो जाने की सूचना देने वाली हर हर महादेव की आवाजें। मिट्टी की तरह-तरह की गंध उसके भीतर की पर्तों में बसी है।"⁶

'आकाश की छत' में दिल्ली की अप्रत्याशित बाढ़ में फँसे एक ऐसे व्यक्ति की पीड़ा का व्यंजना है जिसे बड़ी सहजता से अस्तित्ववादियों के संत्रास, अलगाव या मृत्युबोध की पीड़ा से जोड़ा जा सकता था। कथानायक के पास अज्ञेय का 'अपने - अपने अजनबी' उपन्यास भी है, जिसके पात्र लगभग उसी प्रकार की परिस्थितियों में फँसे हैं, जिस प्रकार की परिस्थितियों में 'आकाश की छत' का कथानायक यश घिरा हुआ है। लेकिन यश अकेला होकर भी अकेला नहीं है। उसके पास अस्तित्व के लिए चलने वाले अन्धे संघर्ष की कुछ बहुत ही जीवंत स्मृतियाँ हैं। वे स्मृतियाँ उस भाई की हैं जो अन्याय का विरोध करते हुए अपने

प्राणों की आहुति दे देता है। अतः आकाश की छत के नीचे अपने प्राण बचाने की चिन्ता के साथ यश के सामने गाँव के उन लोगों की एक पूरी-की-पूरी दुनिया उभर आती है जो उसी प्रकार की अत्यधिक भयावह परिस्थितियों में फँसे -- हालांकि वे परिस्थितियाँ मानव निर्मित हैं- आत्म रक्षा के लिए संघर्ष कर रहे हैं। यहाँ दिल्ली की बाढ़ तो एक युक्ति के रूप में प्रायोजित स्थिति भर है, वह एक ऐसा बहाना है जिसके सहारे यश अपने गाँव पहुँच जाता है। उपन्यास में शहरी जीवन की विडम्बना के भी एक -दो कोण उभरे हैं लेकिन जैसे उनके साथ उलझना लेखकीय चिन्ता का विषय नहीं है। लेखक की दृष्टि और संवेदना के केन्द्र में गाँव ही हैं।

प्रश्न यह है कि आखिर लेखक क्यों उलझता है गाँव की जिन्दगी से? क्यों इस प्रकार की तड़प और बेचैनी का अनुभव करता है वह उसके लिए? शहर की आवाजों के बीच घिर कर भी उसकी स्मृतियों में गाँव की आवाजें क्यों गूँज - गूँज उठती हैं? क्यों ऐसा होता है कि शहर में रहकर भी गाँव की ओर जाने वाली पगडंडी को देखकर वह भावुक हो उठता है? क्यों गाँव के फटेहाल लोगों को शहर की सड़कों पर पसीने से लथपथ दौड़ते देखकर उसके हृदय की धड़कनें तीव्र हो जाती हैं? गाँव के जीवन के प्रति रचनाकार के इस असाधारण आकर्षण को आलोचकों ने आशंका की दृष्टि से देखा है। आशंका को शब्द देते हुए डॉ० चन्द्रकान्त बान्दिवडेकर लिखते हैं- "नगर जीवन की मानसिकता से ऊबे हुए लेखकों ने अपने बचपन के जीवन में, ग्राम्य जीवन की हरियाली भोगी थी उसका वास्तविक वर्णन आंचलिक साहित्य के नाम पर करना आरम्भ किया।"⁹ प्रखर मार्क्सवादी समीक्षक डॉ० शिवकुमार की भी आंचलिक कहे जाने वाले उपन्यासों से शिकायत है कि इनके रचनाकारों के लिए प्रायः मानवीय यथार्थ की तुलना में परिवेश से जुड़ी हकीकतें अधिक महत्वपूर्ण बन जाती हैं। अतः प्रश्न यह है कि गाँव की जिन्दगी के प्रति रामदरश मिश्र की यह ललक और यह आकर्षण, क्या उनकी वैचारिक या संवेदात्मक पिछड़ की ओर संकेत करते हैं? या वे उनकी किसी गहरी रचनात्मक आवश्यकता को पूरा करने वाले उनके सोच और संवेदन की गति और दिशा प्रदान करने वाले जरूरी

उपकरण हैं।

कहना न होगा कि रामदरश मिश्र के रचनात्मक अनुभव के लिए गाँव की जिन्दगी कोई सुविधा का विषय न होकर एक चुनौती है। उसमें जीवन और रचना दोनों ही स्तरों पर संघर्ष की स्वीकृति है। हर हालत में यह उस मनुष्य की पक्षधरता है जो हड्डियाँ जला देने वाला कठोर परिश्रम करके भी उतना नहीं पाता जितने से अपना और परिवार का पेट भर सके-

'नीरू ने आज सुबह ही सुबह माँ के हाथों पर हफ्ते भर की तनखाह रख दी थी इसलिये खाने का इन्तज़ाम हो गया था। नीरू ने खाना खाते समय कपड़ा निकाला तो माँ स्तब्ध रह गई। हड्डियाँ निकल आयीं थीं, नसें उभर गई थीं। माँ ने एक बार हफ्ते भर की तनखाह का हिसाब लगाया, फिर नीरू की हड्डियों को गिना, कुछ कह नहीं पा रही थी।

'नीरू तुम्हें कितनी तनखाह मिलती है ? माँ का स्वर था। '

'आठ आने रोज माँ। '

'तीन रुपये तो तुमने घर को दे दिये। आठ आने में एक हफ्ता कैसे चला होगा।' गीले स्वर में माँ ने पूछा।

'चल जाता है माँ, चल जाता है। तुम काहे को चिंता करती हो। मिल में सामान सस्ते में मिल जाता है।'¹⁰

माँ ने नंगी वास्तविकता के अधिक अनावृत होने के भय से बात अधिक नहीं बढ़ाई।"

मिश्र जी का कथासार अपनी सर्जना में इसी नंगी वास्तविकता से जूझता है बड़े निर्मम भाव से उसे अनावृत करता चलता है। 'जल दूटता हुआ' का सतीश अनुभव करता है "गरीबी सबसे बड़ा अपमान है - वह तेज, विद्या बुद्धि सब छीन लेती है।"¹¹ और कि "इस इलाके के बड़े बाभन, हरिजन, मध्यवर्ग, निम्नवर्ग, सभी भूख और गरीबी के चक्के में बुरी तरह पिस रहे हैं।"¹²

गरीबी में पिसने वालों की यह व्यथा-कथा ही मिश्र

जी की चेतना को बार-बार कुरेदती है। उन्हें बेचैन बनाती है और उन्हें उन ऊबड़-खाबड़ वीरान इलाकों में ले जाती है जहां घायल सामथारी इलाज के अभाव में दम तोड़ देता है, जहाँ सुगन मास्टर पग-पग पर समझौता करने के बावजूद सिर पीटकर रह जाते हैं; चिनैया की मजबूरी उसे वेश्या बनाकर छोड़ देती है। फुलवा का सर्वस्व चला जाता है और मँगरू को उसके खेत से बेदखल कर दिया जाता है। वस्तुतः मिश्र जी का कथा साहित्य इस सामाजिक अन्याय के विरुद्ध और प्रकृति तथा व्यवस्था की दुहरी मार खाने वाले लोगों के पक्ष में की गई ज़रूरी कार्यवाही है। यही वह कसौटी है जिस पर वे आज की राजनीति और दर्शन को, धर्म और संस्कृति को, अनुभव और विचार को, कला और जीवन मूल्यों को परखते हैं। इनमें से जो भी गाँव की इस शोषित मनुष्यता के हित में है, वही मानवीय और मूल्यवान है, और जो इसकी पक्षधरता नहीं करता, उसके आसपास चका-चौंध कर देने वाला कितना ही तेजस्वी प्रभा मण्डल क्यों न हो, वह मानव विरोधी है- - त्याज्य है।

लेकिन इस सम्बन्ध में एक बात जो कभी भुलाई नहीं जानी चाहिए वह यह की एक रचनाकार की मानवीय पक्षधरता विचार और व्यवहारगत न होकर अनुभवात्मक होती है। यह ज़रूरी है कि उसकी पक्षधरता आरोपित न हो। रचना में यह पात्र परिस्थिति के संघर्ष और सामंजस्य की तार्किक परिणति के रूप में आए। उसमें आने वाले विचार अनुभव प्रसूत हों। संयोग से “अपने लोग” का कथानायक प्रमोद एक रचनाकार के रूप में मनुष्यता का पक्षधर है लेकिन वह अपनी इस पक्षधरता में पूरी तरह संतुष्ट नहीं हो पाता-“कभी-कभी तड़प होती रही है कि काश मैं इस मिट्टी में उतर कर इस मिट्टी की गरीबी के विरुद्ध सक्रिय संघर्ष कर पाता। साहित्य के माध्यम से तो यह संघर्ष उभारने की कोशिश करता रहा हूँ, लेकिन साहित्य का संघर्ष काफी नहीं है।”⁹² ‘जल टूटता हुआ’ के अमलेश जी अपनी उच्चकोटि की साहित्यिक, सांस्कृतिक अभिरुचि के बावजूद अपने आपको दीनदयाल की धूर्तता से नहीं बचा पाते। अमलेश जी यह कहते ही रह जाते हैं- “हिम्मत हो तो आ जाओ किसी भी मैदान में- साहित्य पर

बहस कर लो ...।”⁹³ लेकिन इससे उनकी स्थिति में कोई फर्क नहीं पड़ता। इसका अर्थ यह नहीं की रामदरश मिश्र सामाजिक संघर्ष में साहित्य की कोई भूमिका ही स्वीकार नहीं करते। यहां उनका संकेत इस तथ्य की ओर है कि बड़ी से बड़ी क्रांतिकारी कलाकृति भी क्रांति की समानार्थ नहीं हो सकती। उसकी भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण होती है। लेकिन इसका प्रभाव सीधा न होकर परोक्ष होता है। इस परोक्षता का सम्बन्ध सीधे-सीधे साहित्य की रूपगत मर्यादा से है। यही वह सीमा रेखा है जहां कभी-कभी रचनाकार के अन्वेषण की दिशा और आलोचक के आग्रहों के बीच टकराहट की स्थिति पैदा हो जाती है।

प्रत्येक रचना रूप में कुछ सामान्य लक्षण होते हैं। संवेदात्मक दृष्टि और तदनुरूप शिल्प संधान की कुछ निश्चित दिशाएँ होती हैं। एक श्रेष्ठ रचनाकार अनुभव और शिल्प की इन मर्यादाओं में बँधकर नहीं रह जाता। एक स्तर पर जहाँ वह इनसे जुड़ा होता है, वहीं दूसरे स्तर पर यह इनके अतिक्रमण के द्वारा अपनी विशिष्ट पहचान बनाता। हम यहां रामदरश मिश्र के उपन्यासों के इन रचनात्मक बिन्दुओं को तलाश करेंगे जो उन्हें यथार्थ बोध और मानवीय अर्थवत्ता की पहचान के स्तर पर वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं। आंचलिकता के चालू मुहावरे से हटकर एक रचनात्मक के रूप में उनकी अलग से पहचान बनाते हैं।

मिश्र जी के उपन्यासों में आने वाला गाँव सामान्य न होकर विशिष्ट है। वह पूर्वी उत्तर प्रदेश के भू-भाग से सम्बन्धित है जो अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण नदियों से घिरा हुआ है। इन नदियों का पानी इस भू-भाग के लिए जीवनदायी तत्व बन सकता था, लेकिन हुआ यह कि वह बाढ़ बनकर आता है और खेतों में खड़ी फसलों को अपने साथ बहा ले जाता है। वहाँ के लोगों को बेघर और बेसहारा बना जाता है। जो समस्या ‘पानी के प्राचीर’ की है, लगभग वही समस्या ‘जल टूटता हुआ’ की है। इन दोनों उपन्यासों की समस्या और उसके समाधान की खोज की दिशा में जो अन्तर दिखाई देता है वह समय के साथ बनते बिगड़ते नए सामाजिक, राजनीतिक, समीकरणों ने उपस्थित किया है। दोनों ही उपन्यासों के केन्द्र में कछार के अभावग्रस्त जीवन की करुण स्थितियों के बीच से उभरकर लेखक की

चेतना पर बार-बार एक ही सवाल दस्तक देता है। वह यह कि इस शोषित और वंचित मनुष्यता का इस घोर लज्जाजनक गरीबी से मुक्ति कैसे मिलेगी ? कब मिलेगी ?

व्यवस्था का नागपाश और अमानवीयकरण की प्रक्रिया : इस स्तर पर इनका पहला उपन्यास 'पानी के प्राचीर' हमें एकदम आश्चर्य नहीं करता। उसमें शोषित समाज की पीड़ा का मर्म तो है लेकिन 'पांडे पुरवा के लोग उन ताकतों को पहचानने की प्रतीति नहीं कराते जो उनका शोषण करती हैं। इस पहचान के अभाव में ही लोगों के मन में उनके प्रति तीव्र घृणा या आक्रोश का भाव पैदा नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में उन शक्तियों के प्रतिकार की प्रभावशाली भूमिका भी निर्मित नहीं हो पाती।¹⁹⁸ उपन्यास में संघर्ष तो है लेकिन वह लगभग गँवई लड़ाई के स्तर पर ही चित्रित हुआ है। कथानायक नीरू के पिता सुमेश पांडे के लिए कहा गया है- "वह मजबूरियों से घिरा होने के नाते वर्तमान को ही देख पाता था। भविष्य के प्रति उसकी दृष्टि हमेशा सजग नहीं रह पाती थी। हर बार वर्तमान की छोटी उपलब्धियां भविष्य की बड़ी संभावनाओं का तिरस्कार कर देतीं।"¹⁹⁹ यह कथन जैसे गाँव के सभी लोगों के लिए सही ठहरता है। नेता गनपति को इस बात की जानकारी है कि "अंगरेज सरकार ने भाई-भाई के बीच फूट डाल रखा है, यह जमींदार-आसामी का फर्क बना रखा है..... इस अंगरेज सरकार ने हमारी जिन्दगी पायमाल कर दी है।"²⁰⁰ लेकिन उनकी यह जानकारी विचार के धरातल पर ही रहती है, वह जीवनव्यापारों के बीच से फूटकर अनुभव के धरातल पर नहीं आ पाती।

लेकिन शायद आलोचकीय दृष्टि की एक मर्यादा यह भी होती है कि वह व्यक्ति या समाज-जीवन की किसी सच्चाई को, उसके किसी अंश को उसी रूप में चित्रित देखना चाहती है जिस रूप में उसने उनकी धारणा बना ली है। यदि रचनाकार का कोई विचार उसकी रचना में अनुभव के स्तर पर व्यक्त न हो सके तो इस असंगति को आसानी से पहचाना जा सकता है। लेकिन उसके रचनात्मक अनुभवों में अन्तर्निहित दृष्टि को, रचनाकार के संवेदनात्मक उद्देश्य को पहचान पाना उतना आसान नहीं हो पाता। 'पानी के प्राचीर' में व्यवस्था के खिलाफ सीधी कार्यवाही के रूप

संघर्ष का चित्रण लेखक को अभिप्रेत नहीं है। उसका संवेदनात्मक उद्देश्य कुछ दूसरा ही है- कहना न होगा कि वह अधिक गहरा है और उसकी व्यंजना भी अधिक सांकेतिक रूप में हुई है। उपन्यास का कथानायक नीरू 'सोच रहा है मगर उसके सोचने से क्या होता है ? प्रवाह तो अपने रास्ते चला जा रहा है। वह सोचता है- इसे रोकना है"²⁰¹ इस आतंककारी अमानवीय प्रवाह ने नीरू के जीवन को तबाह कर दिया है- "उसके मन में सत्य और कल्पनाओं की एक भीड़ खड़ी हो गई है। खेत सब मुखिया के पेट में चले गए। घर के समान कस्बे के बनिए ने खा डाले। चारों ओर से कर्ज दहाड़ रहा है।"²⁰² हर स्तर पर अन्याय और शोषण की यातनाओं को झेलने वाला नीरू जमींदार गजेन्द्रसिंह की नौकरी करते हुए अपनी और अपने साथ ही अपने वर्ग की यातनाओं के मूल तक पहुंच जाता है। वह देखता है "गुलाब के फूलों की लाली हवेली के पीछे मुस्करा रही थी, रंग रही थी बगीचे के आंचल कोऔर....और हवेली के सामने किसानों की पीठ पर रक्त की चिपचिपाहट धूप में चिलचिला रही थी।"²⁰³ नीरू देखता है कि किसानों की पीठ पर कोई बरसाने वाले गजेन्द्रसिंह के सिपाही भी किसानों के ही बेटे हैं। "वह सोच रहा था ये सिपाही भी कितने जानवर हो गये हैं? घर के गरीब मजदूर किन्तु जैसे जमींदारी प्रथा ने इन पर जादू करके इन्हें अपना बना लिया है। और ये नहीं सोचते कि गरीब किसानों की बहू-बेटियों या खुद किसानों पर जो अत्याचार करते हैं वह खुद अपने पर कर रहे हैं।"²⁰⁴

आपत्तिजनक बात तो यह है कि इतने गहरे सामाजिक विवेक और यथार्थ की इतनी सही पहचान के बावजूद एक क्षण ऐसा आता है जब जमींदार की नौकरी करते हुए नीरू भी शोषण के उस यंत्र का पुर्जा बन जाता है। 'पानी के प्राचीर' में जिस भूभाग की व्यथा-कथा मिश्र जी कह रहे हैं, उसमें पहले तो ऐसे लोग हैं ही नहीं जो अपनी यातनाओं को जन्म देने वाली व्यवस्था के असली चेहरे को पहचानते हों और जो हैं भी- जैसे कि नीरू- उन्हें वह सत्ता और सम्पत्ति के नागपाश में बाँधकर एक ओर डाल देती है। उनके अन्दर की मानवीय संवेदनशीलता के स्रोत को सोख लेती है। यह बात नहीं कि नीरू अपने आपको इस पकड़

से मुक्त न कर लेता हो, लेकिन यह होता है बहुत बड़े आत्मसंघर्ष के बाद। उसके बाद नीरू के प्रयत्नों का एक ही लक्ष्य हो सकता था और वह था व्यवस्था के आमूल बदलाव के लिए संघर्ष की नयी दिशा का संधान। लेकिन शताब्दियों की परतंत्रता के बाद मिलने वाली आज़ादी लोगों में नयी चेतना पैदा करती है, नई उमंग जगाती है। ऐसी परिस्थिति में नीरू की दृष्टि से वह प्रश्न कुछ समय के लिए ओझल हो जाता है जिसे लेकर वह अब तक अपने आपसे और व्यवस्था से जूझता रहा। देश की आज़ादी एक विराम है, उस संघर्ष के लिए जिसका चित्रण रचनाकार अपनी अगली कथाकृति 'जल टूटता हुआ' में करता है।

व्यवस्था के आमूल बदलाव के लिए संघर्ष और व्यक्ति मन के अन्तर्निषेध : बदलाव की कामना एक बात है लेकिन भीतरी तथा बाहरी अवरोधों से जूझते हुए आगे के पथ का संधान करना दूसरी बात है। मिश्र जी उन लोगों में से नहीं हैं जो समस्या का सरलीकरण करके अपने अन्तर्द्वंद्व और बाह्य संघर्ष से मुक्ति पा लेते हैं। वे समस्या को बढ़ा-चढ़ा कर या अकारण उलझाकर भी प्रस्तुत नहीं करते। वे अनुभव और विचार दोनों ही स्तरों पर अपने सृजन के दायित्व की गम्भीरता का निर्वाह करते हैं। वे गाँव के (और भारत गाँवों का देश तो है ही) ऐसे लोगों की मानवीय चिन्ता और उनके मानवीय संघर्ष को रूपायित कर रहे हैं। जिनके पास अपनी एक परम्परागत दृष्टि भी है। वे भले ही चिन्तन के स्तर पर उस परम्परा से जुड़े न हों, लेकिन उनके संस्कार बड़ी दूर तक उनकी समझ और सोच की दशा का निर्धारण करते हैं। मनुष्यता के हित में चलने वाला संघर्ष अनेक स्तरों पर लड़ा जा रहा है, वह अनेक दृष्टियों से अपने आपको संवर्धित कर रहा है। हमारे यहाँ कम-से-कम दो दृष्टियाँ तो क्रियाशील हैं ही - गाँधीवादी और मार्क्सवादी। हम एक को अध्यात्मवादी कह सकते हैं और दूसरी को भौतिकवादी। 'जल टूटता हुआ' का कथानायक अपने संघर्ष की दिशा निर्धारण में एक गहरे अन्तर्विरोध में फँसा दिखाई देता है। एक स्तर पर वह आत्म-पीड़ा और आत्मदान के पथ पर चलकर अपने लक्ष्य तक पहुंचने की बात सोचता है। "नहीं वह सत्य का पक्ष नहीं छोड़ेगा, चाहे कितने ही खतरे उठाने पड़े, उसे टूट ही

क्यों न जाना पड़े, देश में और लोग भी हैं जो इस पथ से चल रहे हैं, वह परगना हाकिम, कलक्टर साहब सभी तो इस पथ पर हैं।²¹ लेकिन दूसरे स्तर पर वह बड़ी बेचैनी के साथ अनुभव करता है कि सामाजिक न्याय की इस समस्या को नीति या निष्ठा के स्तर पर नहीं सुलझाया जा सकता। यह बात नहीं कि ऐसे परगना हाकिम या ऐसे कलक्टर हमारे बीच हैं ही नहीं जो सतीश की तरह प्रलोभनों और आकर्षणों से दूर रह कर अपनी ईमानदारी की बड़ी से बड़ी कीमत चुकाने को तैयार रहते हैं लेकिन कानून और कर्तव्य परायणता से उस सच्चाई को कैसे झुठलाया जा सकता है, जिसके रहते सतीश अनुभव करता है कि "कागजी न्याय, पुलिस वगैरह झूठे झमेले हैं, जो कभी भी सत्य का पक्ष नहीं ले सकते, सब उलझाकर छोड़ देते हैं।"²² सतीश यह समझ चुका है कि न्याय की लड़ाई अदालत में नहीं लड़ी जा सकती और न उसको लड़ने का वह तरीका हो सकता है जो उसका अपना है। इस लड़ाई का अंतिम फैसला जनता की अदालत में होगा और इसका कारगर तरीका वह होगा जो महीपसिंह के विरुद्ध जगपतिया ने अख्तियार किया था। यानी इसके लिए समानधर्मा लोगों को संगठित करना होगा और शोषण तथा दमन करने वाली ताकतों के विरुद्ध सीधी कार्यवाही करनी होगी। महीपसिंह और उस वर्ग के लोग उसी भाषा को समझते हैं जो जगपतिया की है। लेकिन फिर भी सतीश रचनात्मक स्तर पर पूरी तरह जगपतिया के साथ जुड़ नहीं पाता। यह नहीं की वह वर्ग-संघर्ष की सच्चाई और उसकी क्रांतिकारी भूमिका से अपरिचित हों। उसमें उसके जुड़ने की गहरी चाह भी है। लेकिन जैसे कोई भीतरी दबाव उसे उस दिशा में आगे बढ़ने से रोक देता है। यह दबाव उसके संस्कारों का है जो उसे अपनी परम्परा से या कहे की अपने पिता से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुआ था। विरोधाभास यह है कि अपने पिता के परम्परागत दाय को भी वह पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पाता। संघर्ष की दिशा में आगे बढ़ने की बेचैनी और अन्तर्निषेधों से ग्रस्त होकर अपने आत्मबद्ध चिंतन के घेर से बाहर न निकल पाना सतीश के जीवन की एक बहुत बड़ी विडम्बना है। क्या यह आत्मसंघर्ष प्रकारान्तर के समग्र भारतीय जनमानस के आत्मसंघर्ष

का परिचायक नहीं है।

राजनीतिक विवेक - समाजवाद के प्रति आस्था :

'अपने लोग' में जो सामाजिक-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य उभर कर सामने आया है वह हर स्तर पर नैतिक विघटन की सूचना देता है। जैसे पूरी की पूरी व्यवस्था कुछ चालाक और अवसरवादी लोगों के इशारे पर नाच रही है। चारों ओर फैली मूल्यगत अराजकता के इस माहौल में वे लोग ही फूल-फल रहे हैं जो दूसरों का खून चूसकर मोटे होते रहने में माहिर हैं या दूसरों की झोंपड़ी उजाड़ कर अपना महल बना लेने में किसी प्रकार की नैतिक बेचैनी का अनुभव नहीं करते। ये सारी स्थितियाँ कथानायक प्रमोद को न केवल मानसिक स्तर पर बेचैन बनाती हैं, बल्कि कर्म और चिन्तन के धरातल पर गहरे संघर्ष के बाद उसे इस आत्मस्वीकार की ओर ले जाती हैं कि व्यक्ति और समाज को इन स्थितियों से बाहर निकालने का एकमात्र रास्ता समाजवाद है। संयोग से प्रमोद एक रचनाकार भी है और अपनी रचनाओं में वह उन्हीं मूल्यों की स्थापना के लिए संघर्षशील है जो शोषित मनुष्यता की पक्षधरता करते हैं। उसके प्रगतिशील चिन्तन का आदर्श ऐसे सामाजिक संघर्ष की भूमिका का निर्माण करना है जो मानव-मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर सके। प्रमोद जानता है कि यह लड़ाई अकेले हाथों नहीं लड़ी जा सकती। इसके लिए एक सामाजिक-राजनीतिक संगठन का होना निहायत ज़रूरी है। लेकिन संगठन के साथ जुड़ने के सवाल पर एक रचनाकार के रूप में उसका मन द्विधाग्रस्त दिखाई देता है। उसे डर है कि राजनीतिक संगठन कहीं उसकी लेखकीय स्वतंत्रता को मर्यादित न कर दे। उसका यह संदेह सम्भवतः उन कठमुल्ले साम्यवादियों की बहसों से जन्मा है जिन्हें न ज़िन्दगी का अनुभव है, न मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की पहचान। लेकिन एक लम्बे अन्तर्द्वंद्व के बाद एक व्यावहारिक शर्त के साथ वह अपने आपको साम्यवादी पक्ष के साथ जोड़ लेने को तैयार हो जाता है। शर्त यह है कि वह साम्यवादी पक्ष उन लोगों का नहीं होगा जिनके लिए मार्क्सवाद केवल एक फ़ैशन है जो शहर के कॉफी हाउसों में बैठकर केवल शाब्दिक बहस ही कर सकते हैं और कुछ भी नहीं कर सकते। वह पक्ष कामरेड जनार्दन जैसे लोगों का होगा

जो मार्क्सवाद को जनता में जीवित करना चाहते हैं। जो किसानों और मजदूरों के बीच रहते हैं। उनके अधिकारों के लिए लड़ते हैं, उन्हें जगाते हैं, पढ़ाते हैं, लिखाते हैं। इसलिये अपने पुत्र पवन को साम्यवादी पक्ष के साथ जुड़ते देखकर प्रमोद उससे कहता है--"कभी-कभी तड़प होती है कि काश मैं इस मिट्टी की गरीबी के विरुद्ध सक्रिय संघर्ष कर पाता। मैं सक्रिय संघर्ष नहीं कर सकता। यह मेरी सीमा है, इसलिए वह चाह लिए मैं बराबर तड़पता रहा हूँ। वह चाह तुम्हारे माध्यम से अभिव्यक्ति पा ले, तो मुझे परम तृप्ति होगी।"^{२४}

हालांकि किसी पात्र की मान्यताओं को ज्यों की त्यों रचनाकार की मान्यताओं के रूप में स्वीकार कर लेना उचित नहीं माना जा सकता, लेकिन प्रमोद की उपर्युक्त मनःस्थिति और उसमें उद्भूत चिन्तन में लेखक अपनी मान्यताओं और आस्था की अनुगूँज आसानी से सुनी जा सकती है। "आकाश की छत" में रचनाकार का यह चिन्तन कर्म के रूप में अपनी सक्रियता ग्रहण करता है। 'अपने लोग' में जिस आदर्श की कल्पना की गयी थी, वह 'आकाश की छत' में एक मूर्त वास्तविक बन कर आई है। यहाँ कामरेड जगत जनता के बीच रहकर उसकी इच्छा, आकांक्षा और सपनों से अपने आपको जोड़कर मानवीय अधिकारों के लिए चलने वाले जन-संघर्ष को उसकी तर्किक परिणतियों तक ले जाने के लिए जनशक्ति को संगठित और संचालित कर रहे हैं।

'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ' में गजेन्द्रसिंह और महीपसिंह जैसे क्रूर जमींदारों के यहाँ नौकरी करते हुए नीरू और सतीश किसानों के साथ अपेक्षाकृत रहमदिली का व्यवहार करते हैं। उनके इस मानवीय व्यवहार के कारण हम उनके प्रति अन्दर ही अन्दर कृतज्ञता से भर उठते हैं। उन दोनों का यह बड़ा संवेदनशील और मानवीय रूप हमें दूर तक प्रभावित करता है। 'आकाश की छत' के बिरजू भैया भी सेठ की नौकरी करते हुए सेठ के कर्जदारों के प्रति बड़ी नरमी से काम लेते हैं। अपनी इसी मानवीय उदारता के कारण वे मजदूर वर्ग में सम्मान के अधिकारी बन जाते हैं। लेकिन कामरेड जगत को बिरजू का यह मानवतावाद बिलकुल प्रभावित नहीं करता। इस सन्दर्भ में

वे कुछ-कुछ निराशामिश्रित रूखेपन से कहते हैं- “हाँ लेकिन इस प्रकार की उदारता भी सामन्ती है।”^{२५} हालांकि यह कटु सत्य है, लेकिन इसे झुठलाया नहीं जा सकता कि इस प्रकार की करुणा और मानवतावाद से गरीबों और शोषितों की स्थिति नहीं बदली जा सकती। गरीबों और मज़दूरों का खून चूसने वाले सेठ चोकरमल की हत्या से भी वस्तुस्थिति में कोई खास फर्क नहीं पड़ सकता। इस सन्दर्भ में कामरेड जगत की मान्यताओं में किसी प्रकार की द्विधा नहीं है। वे यश के समक्ष अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहते हैं- “सेठ को मारने से कुछ नहीं होगा, दूसरा सेठ पैदा होगा। हमें तो उस व्यवस्था को खत्म करना होगा जिसमें सेठ पैदा होते रहते हैं।”^{२६} ‘आकाश की छत’ में प्रकट होने वाली ये धारणाएँ मिश्र जी की राजनीतिक प्रतिबद्धता के सम्बन्ध में संदिग्धता के लिए अवकाश नहीं छोड़तीं। उनकी इस राजनीतिक मान्यताओं के पीछे उनके आज तक के जीवन और रचना के विवेक का बल है। यह सच है कि मिश्र जी ने अपने कुछ कुटिल और क्रूर पात्रों का हृदय परिवर्तन कराया है। ‘जल टूटता हुआ’ के दीनदयाल और ‘अपने लोग’ के सूर्यकुमार को इस सम्बन्ध में खासतौर से याद किया जा सकता है। लेकिन इतने भर से उन्हें गांधीवादी नहीं की कहा जा सकता। यहाँ जो विशेष रूप से ध्यान रखने जैसी है, वह यह कि युग की किन्हीं महत्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के समाधान की खोज के रूप में वे अपने पात्रों का हृदय परिवर्तन नहीं कराते। उनका प्रभाव बहुत सीमित होता है। मिश्र जी ने प्रायः अपने उपन्यासों में समाज की वर्गीय संरचना को स्वीकार किया है। वर्ग-संघर्ष में उनके दृष्टिकोण की हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं। उनकी यह मान्यता है कि संपत्ति के संचय का एक मात्र आधार शोषण है, उसके प्रायः सभी उपन्यासों में एक स्थायी धारणा के रूप में व्यक्त होती रहती है।

‘पानी के प्राचीर’ का नीरू हुरदेरवा राय को लेकर सोचता है- “चूसना, चूसना चूसना ही इन लोगों का काम है। इसलिए जानवार के बड़े आदमी बने हुए हैं।”^{२७}

महीपसिंह के यहाँ नौकरी करते हुए सतीश ने भी ‘जैसे एक नयी दुनिया देखी... एक दुनिया जिसका रंग

किसानों और मजदूरों की चीख-चिल्लाहटों के कंधों पर खड़ा था। जिसके कमल इन गरीबों के पसीने के कीचड़ में खिले थे, जिसका प्रकाश गरीब की हड्डियों की रगड़ से फूटा था।”^{२८}

मिश्र जी का नया उपन्यास ‘दूसरा घर’ लेखक के जीवन और रचनात्मक विकास के कुछ नये बिन्दुओं को छूता है। यह ऐसे लोगों की कहानी है जो अपने गाँव की ज़मीन से उखड़कर भी उखड़ नहीं पाते और अहमदाबाद और इस जैसे अन्य औद्योगिक नगरों की ज़मीन में जमकर भी जम नहीं पाते। संबंधों के अनेक सूत्र इन्हें गाँव से बांधे हैं। कभी-कभी इनके घर की गरीबी की बिसात की छाया इनके अहमदाबाद के जीवन पर कुछ इस कदर पड़ने लगती है कि वह उनके अस्तित्व के लिए खतरा बन जाती है। उससे बच निकलने का कोई रास्ता नहीं मिलता। औद्योगिक नगर की नई स्थितियों और खास तौर से महाजनी सभ्यता से जुड़े नैतिक विघटन के साथ समझौता करने में असमर्थ वे जीवन यापन की सामान्य सुविधाएँ भी नहीं जुटा पाते। ऐसे में उनका जीवन असफलता का एक अंतहीन सिलसिला बनकर रह जाता है। लेकिन कदम-कदम पर लड़खड़ाते गिरते हुए इन लोगों की विशेषता यह है कि असफल हो जाने के बावजूद ये कभी पराजय स्वीकार नहीं करते। घर और दूसरे घर के दो बिन्दुओं के बीच के तनाव के साथ आज की व्यवस्था की अनेक असंगतियाँ, वर्गीय स्वार्थों की अनेक अंधी भूल भुलैया, भाषा, प्रदेशवाद, साम्प्रदायिकता और वैयक्तिक स्वार्थों की गहरी खाइयाँ हैं जो उन लोगों के जीवन संघर्ष को और भी अधिक जटिल और पेचीदा बनाती हैं।

प्रस्तुत उपन्यास में मिश्र जी ने इन सारी स्थितियों को अनुभव के स्तर पर उभारा है और दैहिक स्तर पर इसके मूल चरित्र को समझने का प्रयत्न किया है। लेखक की चिन्ता के केन्द्र में वंचित और अभावग्रस्त मनुष्य है लेकिन मनुष्यता की चिन्ता होना मानव अधिकारों के लिए तरह-तरह के तर्क जुटा लाना एक बात है और अपनी चिन्ता को मनुष्यता के पक्ष में दिये गये तर्कों का आधार बनाकर एक अच्छी कथाकृति की रचना एकदम अलग बात है। ‘दूसरा घर’ मनुष्यता की चिन्ता से निर्मित एक अच्छी

कथाकृति है। यह कथाकृति भी मिश्र जी की अन्य महत्वपूर्ण कथाकृतियों की तरह पूरी सामाजिक विसंगति पर राजनीति के दबाव की सही पहचान करती है।

‘बीच का समय’ जिसकी संवेदना के केन्द्र से दो युवा हृदयों के आकर्षण से उद्भूत पीड़ा और बेचैनी का अनुभव ही है, सामाजिक सच्चाइयों के कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं का भी स्पर्श कर लेता है। देश के बहुत बड़े औद्योगिक शहर अहमदाबाद में सावरमती के तट पर बैठकर कथानायक शील सोचता है। यहाँ एक बजबजाती हुई नंगी हवा घूमती है- सड़े नाबदानों से, खुले पखानों से, संकरी गलियों से- और आकर टूटे कमरे में थमकर बैठ जाती है, और उदास आँखों से घूरती है चूल्हे की ओर और उधर हवा थिरकती चलती है रेशमी आंचल की तरह चिकनी फर्शों पर कारों सी फिसलती चली आती है और शाम को एक रंगीन आलीशान मकबरे में बैठकर अपनी सांसों से गरमाती है बिस्तरों को।²⁹

इसी बात को ‘अपने लोग’ का प्रमोद अधिक सीधी शब्दावली में कुछ अधिक साफ ढंग से प्रस्तुत करता हुआ कहता है “जहाँ कहीं वैभव है, वहाँ उसके नीचे एक उजड़ा हुआ जीवन पड़ा है वैभव की कल्पना गरीबों के जीवन के उजाड़ के बिना हो ही नहीं सकती।”³⁰

पात्रों के चरित्र निर्माण में भी मिश्र जी ने उनके वर्गीय वैशिष्ट्य को विशेष रूप से रेखांकित किया है। खास तौर से उनके नारी पात्रों में सामाजिक दायित्व के पक्ष से लेकर प्रेम के व्यक्तिगत धरातल तक श्रमिक वर्ग की नारियाँ अधिक संघर्षशील दिखाई देती हैं। वह चाहे बिदिया हो या लवंगी, इमरतिया हो या रूपमती, इस वर्ग की हर स्त्री जीवन संघर्ष के स्तर पर अधिक ऊँची नीतिमत्ता, उदारता और मानवीय संवेदनाशीलता का परिचय देती है। वह परिस्थितियों के सामने झुकती नहीं; उनका डटकर मुकाबला करती हैं। ये सभी श्रमिक होने के साथ ही तथाकथित छोटी जाति की नारियाँ हैं। लेकिन ये बड़ी जातियों के ‘बड़प्पन’ के खोखलेपन को बखूबी जानती हैं। बिदिया सोचती है-- ‘कैसे ये बाभन कुत्ते। रात में बिप्टा तक खा लेंगे और दिन में ओठों पर पान की पीक पोतकर

महकने की कोशिश करते हैं।”³¹ ‘जल टूटा हुआ’ की बदमी चुनौती के स्वर में कहती है- “यह गिरने गिराने का काम आप लोगों के घरों को बाभनियाँ करती हैं, मुझसे किसी के घर का कुछ छिपा नहीं है।”³² ‘आकाश की छत’ की रूपमती में एक गहरे आत्म-विश्वास का भाव है, जो एक श्रमिक नारी की आत्मनिर्भरता से ही जन्म ले सकता है। वह कामरेड जगत से कहती है-- “मैं बकरी बनकर रहने वाली बड़ी जातियों की औरत नहीं हूँ। मैं अपने हाथों के बल पर जी सकती हूँ।”³³ ‘सूखता हुआ तालाब’ की चिनैया का संकल्प उसकी अपराजेय संघर्षशील चेतना का परिचायक है।

मिश्र जी के बड़े उपन्यासों- ‘पानी के प्राचीर’, ‘जल टूटा हुआ’, ‘अपने लोग’ और ‘आकाश की छत’ के पात्रों के जीवनसंघर्ष का स्वरूप बहुस्तरीय है। वह युग की सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों से प्रभावित तो होता ही है, अनेक स्तरों पर उन्हें प्रभावित भी करता है, कभी-कभी उनके प्रवाह की दिशा भी बदलता है। लेकिन उनके छोटे उपन्यासों - ‘बीच का समय’ ‘सूखता हुआ तालाब’ और ‘रात का सफर’ का द्वन्द्व कुछ भिन्न प्रकार का है। परिस्थितियों का दबाव यहाँ भी है, लेकिन उनके प्रतिकार का रूप सामूहिक न होकर वैयक्तिक है। यहाँ भी व्यक्तिगत पीड़ा के विशिष्ट संदर्भ में भी युग की व्यापक सच्चाइयों के कुछ ऐसे महत्वपूर्ण संकेत उभर आते हैं कि वे युग जीवन की किसी असंगति या अन्तर्विरोध की समझ या समीक्षा बन जाते हैं। यहाँ प्रतिकार का तरीका भी अलग प्रकार है। वह जमीन की असंगतियों या अमानवीय स्थितियों का विवेक पूर्ण अस्वीकार होता है। यह जितना मूल्यागत होता है उपन्यास में उसकी उतनी ही कलागत अनिर्वायता भी होती है। ‘सूखता हुआ तालाब’ की चिनैया उस गाँव को छोड़कर चल देती है जिसने उसे ‘बेस्सा’ बनाकर छोड़ दिया था। ‘रात का सफर’ की ऋतु अपने भ्रष्ट और अनैतिक पति के गाल पर एक तमाचा मारकर अपनी छाती पर रखे बोझ से हमेशा के लिए मुक्ति पा लेती है। ‘बीच का समय’ के शील का अस्वीकार- रीता को छोड़कर गाँव से चले जाना जैसे एक मधुर किन्तु फिसलन वाली ढलान से अपने आपको रोककर गाँव की खुरदरी ज़िन्दगी की सीधी चढ़ान

की ओर वापसी है। छोटे उपन्यासों के पात्रों की यह अस्वीकृति हर स्तर पर हर हालत में जीवन संघर्ष की स्वीकृति की सूचक होती है। अन्ततः उसके व्यक्तिगत संदर्भ की परिणित किसी व्यापक सामाजिक सत्य के उद्घाटन में होती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मिश्र जी ऐसे रचनाकार हैं जिन्हें गाँव की मिट्टी से गहरा प्रेम है, वहाँ के नदी तालाबों, खेत खलिहानों, बाग-बगीचों, तीज़-त्योहारों, मेलों दशहरों के प्रति गहरा आकर्षण है। लेकिन इन सबके प्रति उनके लगाव का एकमात्र कारण यह है कि ये सब उस मनुष्य के साथ जुड़े हुए हैं, जिस पर प्रकृति और व्यवस्था की दुहरी मार पड़ रही है। उनके श्रेष्ठ उपन्यासों को आंचलिक उपन्यास की श्रेणी में रखा जा सकता है, लेकिन आंचलिक तत्वों के प्रति गहरे आकर्षण के बावजूद अपनी कथा-कृतियों में मिश्र जी उस मनुष्य की केन्द्रीय स्थिति को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देते, जिसकी यातनाओं के मूल में वर्ग विभक्त समाज की सच्चाइयाँ हैं। मिश्र जी का मानना है कि सम्पत्ति का संचय शोषण से होता है। इसी से अभाव और गरीबी जन्म लेती है। लेकिन गाँव के जीवन के यथार्थ का एक छोर भारतीय समाज की वर्ण-व्यवस्था से भी जुड़ा हुआ है। इसने अछूत समझे जाने वाले मनुष्य की यातनाओं को और भी बढ़ाया है। मिश्र जी ने खास तौर से इस तथ्य को रेखांकित किया है कि इस वर्ण-व्यवस्था के मूल में भी सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का असमान और अन्यायपूर्ण वितरण है। उसका मानना है कि शोषित और दलित मनुष्यता की मुक्ति का मात्र रास्ता वर्ग-संघर्ष है। इस संघर्ष में दलित वर्ग की भूमिका अधिक नियामक होगी। लेकिन वे यह भी मानते हैं कि वर्ग-संघर्ष और समाजवाद का रास्ता आसान नहीं है। यह एक सीधी चढ़ान है जिस पर व्यक्ति के भीतर और व्यक्तिगत स्वार्थों की खतरानाक फिसलनें हैं। लेकिन फिर भी उनके पात्र अपने भीतर और बाहरी अवरोधों से टकराते हुए इस रास्ते पर आगे बढ़ते हैं।

अपने अनुभव के आन्तरिक जरूरत के रूप में मिश्र जी ने आंचलिक शिल्प स्वीकार किया है। यह कला रूप उन्हें जीवन के विविध स्तरीय यथार्थ को उसकी समग्रता में देखने समझने की छूट देता है। बिखराव वाले शिल्प को

उन्होंने कुशलता से साधा है, क्योंकि वे ज़िन्दगी के टुकड़ों में बाँटकर नहीं देखते। उन्हें युग के गतिशील यथार्थ के विविध तत्वों के अन्तः सम्बन्धों की गहरी पहचान है। यह पहचान ही उनके बहुस्तरीय अनुभव को रचनात्मक संयोजन प्रदान करती है। सैद्धान्तिक दुराग्रहों से बचकर जीवन की प्रगतिशील तत्वों को रचना में अनुभव के स्तर पर उद्घाटित कर सकने की अपनी उच्च कोटि की सर्जनात्मक प्रतिभा के कारण समकालीन हिन्दी उपन्यासकारों में मिश्र जी अपनी अलग पहचान बनाते हैं।

१. बीच का समय, पृ० ९७ १
२. वही, पृ० ११७ १
३. वही, पृ० ४८।
४. वही, पृ० ४९।
५. रात का सफर, पृ० ८१।
६. अपने लोग, पृ० १४८।
७. उपन्यास : स्थिति और गति, पृ० २२।
८. आलोचना अंक ५१-५२ (प्रेमचंद और परवर्ती कथा साहित्य)
९. पानी के प्राचीर, पृ० १५७ १
१०. जल टूटता हुआ, पृ० १०२।
११. वही, पृ० १६।
१२. अपने लोग, पृ० ३६०।
१३. जल टूटता हुआ, पृ० १०१।
१४. उपन्यासकार रामदरश मिश्र : संपादक डॉ० वेदप्रकाश अमिताभ एवं डॉ० प्रेमकुमार, पृ० ५७ १
१५. पानी के प्राचीर, पृ० २४ १
१६. वही, पृ० १८४।

जैसा मैंने उन्हें जाना

शिवकुमार मिश्र

स्वार्थपरता, व्यक्तिगत लाभ-लोभ, आपाधापी, अहंकार और ठेठ लेन-देन पर विश्वास करने वाली आज की दुनिया में व्यक्तिगत सामाजिक और विशुद्ध मानवीय स्तर पर संबंधों को बनाए और बचाए रखना कितना कठिन काम हो गया है, इसे वे सब लोग महसूस करते होंगे जो मूल्यों के भयानक विघटन वाले आज के युग में यह सब कुछ अपनी आँखों से देख और भोग रहे हैं। मानवीय संबंधों के क्षरण की यह विष-बेल, कहना न होगा, अपने बुद्धिजीवी होने का दावा करने वालों, अपने को लेखक, रचनाकार, कलाकार और संस्कृति-कर्मी मानने वालों के बीच कदाचित् अधिक तेजी से पनप और फैल रही है। महत्वपूर्ण और सार्थक सृजन हाशिए पर जा रहा है और अपने दायरे के मीडियाकर लिखवाइयों की रचनाएँ प्रायोजित होकर नामी-गिरामी साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में समय के सबसे सार्थक सृजन के रूप में विस्थापित की जा रही हैं। व्यक्तिगत संबंधों- लाभ-लोभ से जुड़े संबंधों के आधार पर रचनाओं पर निर्णय किए जा रहे हैं, रचनाकारों के महत्व की श्रेणियों का निर्धारण हो रहा है। यह सब, जो आज अपने समय को पहचानने के नाम पर, साहित्य, कला और संस्कृति की रक्षा के दम पर, अपनी सोच और अपनी समझ को जमाने की सबसे सार्थक और सबसे आला समझ के रूप में प्रचारित करने के नाम पर हो रहा है, बहुत ही कष्टकर और क्लेशदायक है, किन्तु कहना होगा कि चंद अपवादों को छोड़कर, यही आज का यथार्थ और आज का हमारा आचरण या कदाचरण है।

ऊपर हमने इस स्थिति के कुछ अपवादों की बात

की है। वस्तुतः ये अपवाद ही हैं जो मूल्यों के विघटन के, संबंधों के क्षरण के और प्रायोजित होकर महत्वपूर्ण बनने और बनाए जाने की आज की सांस्कृतिक राजनीति और रणनीति के छद्म में आदमीयत पर, रचना और रचनाकार के स्वत्व पर, संस्कृति और संस्कृति-कर्म की महनीयता पर, मानवीय मूल्यों और आदर्शों के महत्व पर चली आ रही निष्ठा पर, हमारे विश्वास, आत्मविश्वास और आस्था पर, और इन अपवादों को बचाए रखने और उनमें संवृद्धि करने के हमारे संकल्प पर हमें कायम रखे हुए हैं।

डॉ. रामदरश मिश्र के साथ मेरे संबंध ऐसा ही एक अपवाद हैं। चार दशक पहले मैंने पहली बार उनका नाम जाना था और चार दशकों के बाद मैं उन्हें, उनके मनुष्य, उनके रचनाकार एक तरह से उनके व्यक्ति और सर्जक को कभी कुछ जान-समझ चुका हूँ, मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि रामदरश मिश्र के साथ अपने इन दीर्घकालीन संबंधों ने उपर्युक्त अपवादों के प्रति मेरे विश्वास को बल प्रदान किया है, यही नहीं, मेरे इस विचार को भी दृढ़ किया है कि विचारों और सोच की भिन्नता तथा व्यक्तिगत लाभ-लोभ की समझदारी के अभाव में भी मानवीय धरातल पर न केवल संबंध बनाए जा सकते हैं, उन्हें बचाया और गहरा भी किया जा सकता है। आदमीयत के स्तर पर बन गए और गहरे किए गए संबंध अंततः विचारों और सोच की भिन्नता के नाते आई व्यक्ति और व्यक्ति के बीच की दूरी को कम भी करते हैं तथा जड़ता और हठवादिता से परे सोच और विचार के स्तर पर भी पारस्परिक समझदारी को

बढ़ाते हैं।

जब तक मैं गुजरात नहीं आया था, मध्य प्रदेश के सागर विश्वविद्यालय में था, मिश्र जी के साथ मेरे संबंध औपचारिक रहे। शायद ही सागर के बीस वर्षों में मेरे सेवाकाल में मेरा और रामदरश जी का पत्राचार हुआ हो। गोष्ठियों-सम्मेलनों में एक-दो बार की भेंट और आवश्यक शिष्टाचार निभाने तक ही ये संबंध सीमित रहे। उस समय मिश्र जी गुजरात विश्वविद्यालय अहमदाबाद में थे और गुजरात का साहित्य तथा साहित्य के अध्यापन का काल मेरे लिए नितांत अपरिचित था।

मैं सन् १९७७ के सितंबर महीने में गुजरात आया। तक तक मिश्र जी गुजरात से दिल्ली जा चुके थे। गुजरात आने पर मुझे ज्ञात हुआ कि मिश्र जी कितना बड़ा शून्य गुजरात में छोड़ गए हैं। गुजरात के महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के हिंदी अध्यापकों और मिश्र जी के गुजराती भाषा-भाषी शिष्यों जिनमें से कुछ हिंदी के अध्यापक होते हुए भी गुजराती भाषा तथा साहित्य के क्षेत्र में कथाकार और समीक्षक-विचारक के रूप में ख्यात हो चुके थे-मसलन भोला भाई पटेल और रघुवीर चौधरी, आदि की बात जाने दें, तो गुजराती भाषा के उमाशंकर जोशी जैसे अग्रणी कवि, विचारक तक इस शून्य 'को महसूस कर रहे थे। गुजरात में मैं जहाँ भी गया मुझे मिश्र जी के प्रशंसक-शुभचिंतक और एक कशिश के साथ उन्हें याद करने वाले मिले। मिश्र जी ने अपने गुजरात प्रवास में धन क्या कमाया होगा, यश भरपूर कमाया। अपने वैदुष्य, अपनी सहृदयता, अपने स्वाभिमान, अपनी शिष्य वत्सलता और एक महत्वपूर्ण हिंदी रचनाकार के रूप में अपनी कलम की ऐसी छाप और ऐसी साख उन्होंने गुजरात के गुजराती और हिंदी साहित्य प्रेमियों के मन पर छोड़ी, जो ऐसे प्रवासियों के लिए प्रायः विरल ही मानी जाएगी। मिश्र जी के इस यश से एक स्तर पर जहाँ मुझे अतिशय सुख तथा संतोष प्राप्त हुआ, दूसरे स्तर पर इस बात को लेकर चिंताशील भी हुआ कि मिश्र जी के इस प्रभामंडल के बरक्स ही

गुजरात में मेरा अपना कृतत्व जाँचा परख जाएगा और मुझ पर निर्णय किए जाएँगे। आज मैं भी सेवा से अवकाश पा चुका हूँ। मेरे कृतत्व पर क्या निर्णय-निष्कर्ष निकले ओर निकाले गए उनकी बात न करके इतना जरूर कहना चाहूँगा कि मिश्र जी की विरासत से मैं समृद्ध ही हुआ और मुझे अपने समूचे कार्यकाल में उन सबका भारी समर्थन और सद्भावना मिली, जो मिश्र जी से जुड़े हुए थे, उनके प्रशंसक, शुभचिंतक, उनके मित्र और शिष्य थे। जो बातें मिश्र जी की इस अतिशय लोकप्रियता की चर्चा में बार-बार उभर कर सामने आईं वे थीं-उनका वैदुष्य, उनकी सर्जनात्मक क्षमता, उनका अध्यापन, अपने शिष्यों के साथ, प्रभावशाली-शिष्यों के साथ उनकी आत्मीयता, उनके प्रति उनका जनतात्रिक व्यवहार, उनकी निष्पक्षता, उनकी स्पष्टवादिता, उनका स्वाभिमान और उनकी मानवीयता सदाशयता। मिश्र जी आज सशरीर गुजरात में मौजूद न होकर भी यहाँ के साहित्य और अध्यापन काल में बराबर मौजूद हैं, सम्मानित हैं, बराबर याद किए जाते हैं।

मैंने अपने और मिश्र जी के बीच जिस संबंध-सूत्र को सबसे ज्यादा तरजीह दी है, बनाए और बचाए रखना चाहा है, वह देखा जाय तो बुनियादी तौर पर मनुष्यता का संबंध-सूत्र ही है, हर तरह के लाभ-लोभ से अलग, पेशे से जुड़े किसी भी प्रकार के लेन-देन से परे, फिर भी मजबूत और निरंतर मजबूत होता हुआ संबंध। मैं और वे हम-पेशा ही नहीं रहे, मेरे लिए वे मेरे बड़े भाई की तरह रहे। बड़े भाई की मान्यता के बावजूद आज्ञा या आदेश के स्वर में कुछ भी कहने की बात तो दूर झिड़की या उलाहने भी नहीं, मृदुता से, मित्रवत् भी, उन्होंने मुझसे कभी यह शिकायत नहीं की कि मैंने उनकी रचनाओं पर, उनके रचनाकार पर कभी कुछ भी विस्तार से नहीं लिखा। शायद ऐसा कुछ करना या कहना उनके स्वाभिमान के अनुरूप नहीं था, एक रचनाकार और एक मनुष्य के अपने स्वाभिमान के अनुरूप। और जहाँ तक मेरी बात है तमाम ख्यात-अख्यात रचनाकारों या रचनाओं पर

तमाम कुछ लिखते हुए अलग से मिश्र जी की रचनाओं-कविता या उपन्यासों पर कभी विस्तार से कुछ नहीं लिख पाया, गोकि उनकी रचनाओं, कविता तथा उपन्यास, दोनों को सदा रुचि के साथ पढ़ा और सराहा, प्रसंगतः उनकी मौखिक-लिखित चर्चा भी की, उन्हें केन्द्रित करते हुए जरूर कुछ भी नहीं लिख पाया। उनकी 'बैरंग-बेनाम चिड़ियाँ', कविता-पुस्तक तो मैंने सागर में ही पढ़ ली थी। उसे अपने पैसों से खरीदा भी था। फिर 'पानी के प्राचीर', 'जल टूटता हुआ', 'दूसरा घर' शीर्षक उनके उपन्यास भी पढ़े जो मुझे अच्छे ही नहीं लगे, पहले दो तमाम समकालीन रचनाओं-ग्राम जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत करने का दावा करने वाली रचनाओं से बेहतर भी लगे। उनके भीतर मैंने रामदरश जी के कथाकार के यथार्थ को परखने-पहचानने की, और कला में उसे रूपायित करने वाली दृष्टि तथा रचनात्मक प्रतिभा को भी पहचानना, अघोषित ही सही, उनकी जिंदगी तथा मनुष्य के यथार्थ से जुड़ी साफ-सुथरी, प्रगतिशील सोच और समझ से भी मुखातिब हुआ, उन पर कभी कुछ अलग से लिखने का मन भी बनाया, परंतु लिख नहीं पाया। बावजूद इसके, जब कभी मिश्र जी से आमना-सामना हुआ, उन्हें सदा ही आत्मीय भाव से भरा हुआ, अपने से हँसते-बतियाते ही पाया। कभी कोई शिकवा-शिकायत नहीं, उनके मन की विनम्रता तथा खुलापन ही मुझे मिलता रहा। कहना चाहूँगा कि इस सबमें कोताही हुई तो मेरी तरफ से हुई होगी, मिश्र जी की तरफ से नहीं।

आज, जबकि मिश्र जी सर्जना तथा समीक्षा, दोनों आयामों पर हिंदी जगत को काफी कुछ सार्थक और मूल्यवान प्रदेय दे चुके हैं, इस बात को जोर देकर कहना चाहूँगा कि कवि और समीक्षक के रूप में हिंदी जगत में अपनी पहचान को बनाते हुए कथाकार के रूप में खाततौर से प्रेमचंद की ग्राम-केन्द्रित कथा परंपरा को गुणात्मक समृद्धि देने वालों और उसे विकसित करने वाले रचनाकारों के बीच मिश्र जी का अवदान पहली

पंक्ति के साथ रेखांकित किया जाएगा। विचार के धरातल पर ही नहीं, विचार के कलात्मक रूपांतरण के धरातल पर भी, ग्राम-जीवन की बुनियादी समझ के स्तर पर ही नहीं, उस समझ को कला के रूप में प्रस्तुत कर पाने की क्षमता के आधार पर भी, और यही वह बिंदु है जहाँ वे समकालीन अनेक चर्चित कथाकारों से भी आगे प्रेमचंद परंपरा के रूप में अलग से अपना परिचय कराते हैं। ऐसा नहीं है कि मिश्र जी और मेरे संबंधों में संवाद ही संवाद और सम ही सम हो, हम दोनों जानते हैं कि हमारे विचारों, हमारी सोच और हमारे सामाजिक सांस्कृतिक सरोकारों में काफी कुछ अंतराल और भिन्नता है। साहित्यिक मुद्दों पर भी हमारे विचार बहुत कुछ हमारी अपनी सोच से अनुकूलित, अतः अलग-अलग हैं। मिश्र जी राजनीति से काफी कुछ उदासीन हैं, और साहित्य और राजनीति के रिश्तों को लगभग अमान्य करते हैं। प्रतिश्रुति या प्रतिबद्धता की हमारी बात उन्हें रास नहीं आती। रचना या साहित्य का वादों में बाँधकर देखने वाली दृष्टि के भी वे विरोधी हैं। लेखक-संगठनों में भी उन्हें रुचि नहीं है और उन्हें वे साहित्य की राजनीति का अखाड़ा मानते हैं। ये बातें ऐसी हैं कि इनसे जुड़े हुए व्यक्ति के साथ उनका सामंजस्य नहीं बैठ पाता और नहीं बैठ पाया है। अब इसे मैं अपवाद ही मानूँगा कि बावजूद इस सबके मेरे और मिश्र जी के संबंध न केवल बरकरार रहे हैं, दृढ़तर भी हुए हैं। ऐसा भी नहीं है कि विवादास्पद मुद्दों पर हमारे बीच बात न करने को सहमति हो, फिर भी एक-दूसरे के विचारों से कतई असहमति जताने के बावजूद हमारे संबंधों में तनाव या कटुता कभी नहीं आने पाई। एक प्रसंग का उदाहरण देना चाहूँगा। पटना में कई साल पहले एक राष्ट्रीय संगोष्ठी में फणीश्वरनाथ रेणु बनाम प्रेमचंद विवाद अनचाहे ही कुछ प्रतिभागियों द्वारा उठाया गया। उपस्थित विद्वान में विष्णुकांत शास्त्री, गोपाल राय, मेरे तथा अन्य लोगों के साथ मिश्र जी भी थे। रेणु न कुछ अनावश्यक रूप से प्रेमचंद को उनकी सर्जना के बरकस कमजोर साबित करना चाहा। मुझे यह सब अच्छा नहीं लगा और न

चाहते हुए भी कुछ अतिशयोक्तियों के साथ मैंने रेणु की आँचलिक रुझान की कमजोरियों पर तीखा प्रहार किया। रामदरश जी भी इस अवाँछित विवाद से क्षुब्ध थे, किन्तु उन्होंने रेणु के बारे में मेरी स्थापनाओं का तीव्र प्रतिवाद किया। अंततः गोष्ठी संपन्न हुई। बाद में जैसा हम लोग मिले। मैंने मिश्र जी को अपनी स्थापनाओं के औचित्य के बारे में सहमत करने की कोशिश की, किंतु वे मुझसे सहमत नहीं हुए। इस तरह के और भी कुछ प्रसंग हैं वहाँ मिश्र जी और मुझमें गहरी असहमति रही किंतु हमारे मानवीय संबंधों पर इन बातों का कभी कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अपनी-अपनी ज़मीन पर असहमति रखते हुए हम दृढ़ रहे और परस्पर संवादिता भी हममें बराबर रही।

मिश्र जी के साथ अपने लंबे साहचर्य के क्रम में जो बात मुझे मिश्र जी की सोच और व्यवहार में केंद्रवर्ती लगी है, वह उनकी जनतांत्रिक निष्ठा है। अपनी ज़मीन और अपने विचारों के प्रति वे जितने ही दृढ़ और आस्थावान हैं दूसरों से असहमत होते हुए भी वे इस बात के कायल हैं कि दूसरे को भी अपनी ज़मीन और अपने विचारों के प्रति उतना ही दृढ़ बने रहने का अधिकार है। वे टकराव में नहीं संवादधर्मिता पर बल देने वाले हैं और उनका रुख कभी भी हठ के स्तर तक नहीं गया है। वे खुले इंसान हैं मन में गाँठ बाँधकर असहमति और विरोध को संजोए रखने के आदी नहीं। वे मिलनसार, बहिर्मुख और स्पष्टवक्ता हैं और इस नाते संबंधों को असहमति के बावजूद बनाए रख पाते हैं। अपने तर्क में विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि उनके साथ मेरा सहभाव सदा ही बहुत मधुर, मैत्री की ऊष्मा से भरपूर, तथा अपनी-अपनी सोच और समझ के प्रति निष्ठावान रहते हुए, निरंतर परस्पर संवाद करते रहने का रहा है। मनुष्य और उसकी जिंदगी से जुड़े अहम सरोकारों के प्रति हमारी सोच एक जैसी ही रही है और इसी नाते जिंदगी के इस मोड़ तक पारस्परिक विश्वास को कायम रखते हुए हम अपने संबंधों को दृढ़तर बना सके हैं।

मिश्र जी में गजब की रचनात्मक ऊर्जा है। जिंदगी के पचहत्तरवें वर्ष में भी उनकी लेखनी पहले की ही तरह गतिशील है, अनुभवों का आँच में और भी नयी निखरी। ये अनुभव भी, स्वभावतः तित्त और स्वमधुर दोनों ही हैं जीवन को उसके पूरेपन में मिश्र जी ने भोगा-परखा और जिया है और उसी को अपने रचनात्मक लेखन में रूपायित किया है। जिन्होंने उनकी आत्मकथा पढ़ी है, वे सहमत होंगे कि जिंदगी की कोई बहुत साफ-सुथरी सीधी सड़क उन्हें चलने को नहीं मिली। तमाम दूसरों की तरह उन्हें अपना रास्ता खुद बनाना पड़ा है। वे दुरभिसंधियों के, घटिया राजनीति के, छल के शिकार भी हुए हैं। उन्हें उनका प्राप्य भी मुश्किल से ही मिल पाया है। किंतु वे हारे नहीं, हताश नहीं हुए हैं और अंततः जो कुछ प्राप्त कर सके हैं अपने जमीर को हर कीमत पर बचाते हुए, महज अपनी निष्ठा और अपनी कर्मठता के बल पर और वह कम नहीं है अतिशय मूल्यवान है, इस नाते कि वह उनकी अपनी मशक्कत की फलश्रुति है, किसी से पाया हुआ, माँगा हुआ या उधार लिया हुआ नहीं।

मिश्र जी की जीवन-यात्रा निरापद रहे, उनका रचनाधर्मी मन जागृत बना रहे, उनके प्रति यह मेरी शुभकामना है।



आधुनिक हिन्दी कविता में वसन्त

रामदरश मिश्र

भारत ऋतुओं का देश है। भिन्न-भिन्न ऋतुएँ अपने-अपने नव-नव सौन्दर्योन्मेष से प्राकृतिक और मानवीय जीवन को पुलकित करती हुई आती हैं, चली जाती हैं। इन प्राकृतिक छवियों का भारतीय जीवन के साथ इतना गहरा सम्बन्ध हो गया है कि भारतीय जन-मानस नैसर्गिक शोभा के कोमल-कठोर, अनुकूल-प्रतिकूल तत्त्वों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर हँसता है, रोता है, उल्लास अनुभव करता है, विषादमग्न हो जाता है। इन ऋतुओं में भी वसन्त जन-जीवन के साथ अधिक संपृक्त है अपनी शोभा-शीलता के कारण और अपनी उपयोगिता के कारण भी वसन्त की महिमा अपार है। वसन्त का आविर्भाव ऐसे समय होता है जब समस्त प्रकृति शीत की जड़ता के आघात से निष्पन्द हो गयी होती है; जबकि रात और दिन एक विचित्र प्रकार की आलसभरी मनहूसियत से ठिठुरे रहते हैं। वसन्त के आगमन से मानों दिशाकाश के अवरुद्ध मार्ग खुल जाते हैं, सारी प्रकृति एक साथ जड़ता के जर्जर आवरण झाड़कर भीतर से खिलखिला पड़ती है। चारों ओर नवता ही नवता लहराने लगती है। दूसरी ओर जाड़े के सूने दिनों में बेघर, विवस्त्र लोग ठंडक के भार से निस्तब्ध हो गये रहते हैं। वसन्त अपनी उष्ण किरणों की अंगुलियों से उन्हें छूकर जगा देता है। गरीबों के घर उपवास पर उपवास होते हैं। जाड़े के सूने दिन,

सूनी रातें गरीबी का कफन ओढ़कर सोयी जान पड़ती हैं। लेकिन वसन्त आकर उनकी फसलें पका देता है। गीतों के हिल्लोल के साथ फसलें काटी जाने लगती हैं। अन्न की महक से मृत्यु का सन्नाटा टूट जाता है, जीवन नयी यात्राएँ आरम्भ करता है। गरीब अमीर सबको एक बार फिर नव-जीवन का वरदान प्राप्त हो जाता है। इन्हीं कारणों से वसन्त स्वभावतः नव-जीवन का प्रतीक बन गया है। इसीलिए उत्तर भारत में वसन्त के प्रथम दिन (चैत्र वदी प्रतिपदा) से वर्षारम्भ मानते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से चैत्र और वैशाख को वसन्त ऋतु माना गया है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से लोग उसके उल्लास का अनुभव एक-डेढ़ मारा पहले से ही करने लग जाते हैं। किसी प्रियतम व्यक्ति के आने की प्रतीक्षा में गुजरने वाले दिन भी कितने रसमय हो उठते हैं, सहृदयों को इसका अनुभव होगा। अतः लोग वसन्तपंचमी से ही वसन्त का आगमन मान बैठते हैं और उसी दिन से वसन्त राग गाने लगते हैं।

जब सामान्य जनता वसन्त के आगमन से मतवाली हो उठती है तब कवियों का कहना ही क्या? ये तो कोयल के कूकने के पहले ही कूक उठते हैं, फूलों के खिलने के पहले ही कुछ उन्मन-सा अनुभव करने लगते हैं। संस्कृत और हिन्दी कविता वसन्त के शोभा चित्रों से

भरी पड़ी है। यह अवश्य है कि इन कवियों ने अपने-अपने संस्कारों, मनस्थितियों और दृष्टियों के अनुसार इसे भिन्न-भिन्न रूपों और मात्राओं में देखा है। प्रस्तुत निबन्ध का सम्बन्ध आधुनिक हिन्दी कविता से है। अतः इसी सीमा में हम वसन्त के चित्रों को देखने का प्रयत्न करें।

कई कारणों से आधुनिक हिन्दी कविता का प्रारम्भ भारतेन्दु काल से माना जाता है। भारतेन्दु काल ने कविता की भाषा ब्रज भाषा ही रखी किन्तु उसने आधुनिक विषयों और सामाजिक राष्ट्रीय स्पन्दनों को कविता के लिए स्वीकार कर निश्चय ही कविता में आधुनिकता का सूत्रपात किया। किन्तु आचार्य शुक्ल के शब्दों में “वे (भारतेन्दु) केवल नर प्रकृति के कवि थे, बाह्य प्रकृति की अनन्त रूपता के साथ उनके हृदय का सामंजस्य नहीं पाया जाता। अपने नाटकों में दो एक जगह उन्होंने जो प्राकृतिक वर्णन रखे हैं, वे केवल परम्परा पालन के रूप में हैं।” अतः भारतेन्दु या उनके अन्य सहयोगियों में वसन्त का भी उल्लासमय चित्रण नहीं मिलता। “हाँ देश दशा पर दो-एक होली या वसन्त आदि गाने की चीजें फुटकल भी मिलती है।” इसके अतिरिक्त भारतेन्दु ने दो एक जगह और होली का चित्रण किया है किन्तु वह मानों भक्तिकालीन तथा रीतिकालीन परम्परा के ही आग्रह से किया है, हृदय के उल्लास से नहीं। इन्हें देखिए

कान्ह तुम बहुत लगायत अपने को होरी खिलार,
निकसि अब आव मैदान दुरत क्यों ले चौगान निवार।

सखी री कासों ठानत सरवर तू बे-काम,
वह तो पूत फफंदी ब्रज तू है कुल की बाम।

तुही कहा ब्रज में अनोखी भई,
कान नहीं काहू की करत दर्ई।

जानत नहीं कछु चाल यहाँ की आई अबहि नई,
मोहन मिलतहि जान परैगी भूलैगी सबई।
छैल खिलार रसिक होरी को लीने सखा कई,
गाय कबीर अबीर उड़ावत आवत है हैसई।

आधुनिक हिन्दी कविता में प्रकृति के प्रति अनुराग आरम्भ होता है मूलतः द्विवेदी काल से ही। इस काल के कवि अपनी अन्य स्वदेशीय विभूतियों पर मुग्ध होने के साथ ही साथ प्राकृतिक रमणीयता पर भी आकृष्ट होते दीखते हैं। किन्तु द्विवेदी काल अपनी इतिवृत्तात्मक प्रवृत्ति के नाते प्रकृति की नाना आन्तरिक छवियों को न देखकर उसकी बाह्य रूपावली का ही वर्णन करता है। वसन्त पर उस काल में अनेक कविताएँ लिखी गई किन्तु वे कविताएँ कवियों के मानसिक उल्लास, सूक्ष्म दृष्टि और भावात्मक उन्मेष के अभाव में शुष्क वर्णनात्मक तथा प्रभावहीन हो गई हैं। उनमें सूक्ष्म इन्द्रिय-बोध का अभाव है। विशेषतया प्रकृति के वे ही उपादान देखे गये हैं जो परम्परा से काव्य में गृहीत थे। प्रकृति को आलम्बन और उद्दीपन इन दोनों रूपों में देखने की परम्परा रही है। द्विवेदी काल के कवियों ने इन्हीं दोनों दृष्टियों से प्रकृति को देखा है। श्री पूर्ण जी की ‘वसन्त वियोग’ कविता में वसन्त का एक वर्णनात्मक चित्र देखिए :

असित मधुप गण सहित मनोहर,
स्वर्ण सरोज समेत सरोवर
देख तथा छविधर नव दिनकर,
कविवर को विचार है भाता।

श्री मैथिलीशरण गुप्त ने इस वर्णनात्मक परम्परा में प्रकृति के अनेक चित्र उतारे हैं। गुप्त जी द्विवेदी काल के संस्कारों के साथ-साथ छायावादी प्रभाव भी ग्रहण कर सके हैं क्योंकि उन्होंने अपनी जिन्दगी में कई काव्य - युगों को पार किया है। अतः इनके वर्णनात्मक प्रकृति चित्रों में छायावादी रमणीयता और आन्तरिकता कहीं-कहीं मिल जाती है फिर भी उनके मूल संस्कार तो द्विवेदीकालीन ही हैं। अतः वे इतिवृत्तात्मकता का दामन गीतों में भी नहीं छोड़ पाते हैं। साकेत के नवम् सर्ग में विरहिणी उर्मिला प्राचीन परम्परा के अनुसार बारह मासों और षट् - ऋतुओं के आगमन से उद्दीप्त होने वाली अपनी वेदना व्यक्त करने बैठी है। होली को लेकर एक अच्छा गीत वहाँ लिखा गया है।

जिसमें कवि की उपर्युक्त विशेषताएँ दर्शनीय हैं :

काली काली कोइल बोली।
होली होली होली।

हँस कर लाल-लाल होठों पर हरियाली हिल डोली,
फूटा यौवन, फाड़ प्रकृति की पीली-पीली चोली।
होली होली होली।

अलस कमलिनी ने कलरव सुन उन्मद अँखियाँ खोलीं,
मल दी ऊषा ने अम्बर में दिन के मुख पर रोली।
होली होली होली।

होली के बाद वसन्त एकदम फूट पड़ता है। कामदेव, मलयानिल, अशोक, कमल, भ्रमर, मधुमक्खी, आदि वसन्त के सहचर हैं, ये बहुत दिनों से वसन्त के साथ लगे हुए हैं। गुप्त जी ने उर्मिला की मानसिक व्यथा के साथ इन्हें संपृक्त कर इन सहचरों का अच्छा वर्णन किया है।

जा मलयानिल लौट जा, यहाँ अवधि का शाप,
लगे न लू होकर कहीं तू अपने को आप।
करूँ बड़ाई फूल की या फल की चिरकाल,
फूला फला यथार्थ में तूही यहाँ रसाल।

छायावादी कविता ने जीवन और प्रकृति दोनों को देखने का दृष्टिकोण बदला स्वानुभूति की निविड़ता, कल्पना की अतिशयता और व्यक्तिगत दृष्टि की प्राधनता के कारण छायावादी कविता गीतात्मक हो गयी। प्रकृति अपने-आप में कैसी है यही महत्व की बात नहीं है वह हमारी आँखों से कैसी दिखाई पड़ती है इसका विशेष महत्त्व है। छायावादियों ने परिपाटी विहित उपादानों का वर्णन न कर अपनी आँखों से प्रकृति को देखा, उसके भीतर घुसकर देखा। इसलिए इन्हें प्रकृति के नए-नए सौन्दर्य हाथ लगे। उन्होंने इस मर्म का भी अनुभव किया कि जो चेतना उनके भीतर है यही प्रकृति के भीतर भी अतः उन्होंने प्रकृति की आन्तरिक छवि, आन्तरिक चेतना और गूढ़तम रहस्यों को अपने काव्यात्मक ढंग से उद्घाटित किया। जहाँ कहीं कवियों ने प्रकृति का आलम्बन - गत

चित्र उभारा है वहाँ वे स्थूल वस्तु वर्णन में न उलझकर सूक्ष्म से सूक्ष्म इन्द्रिय बोधों शब्द स्पर्श, रूप, रस, गंध का व्यंजना में लिप्त दिखाई पड़ते हैं। जहाँ उन्होंने प्रकृति को मानव चेतना के साथ सम्पृक्त करके देखा है यहाँ वे प्रकृति के सौन्दर्य का मानव मन पर पड़े प्रभावों तथा जीवन के गूढ़ रहस्यों और सत्यों को व्यक्त करने में सफल हुए हैं। छायावादी कवियों ने वसन्त का बड़ा ही उल्लासमय चित्र खींचा है। ये वसन्त चित्र, नवीन वस्तु-विन्यास, नवीन उपमान नियोजन तथा सूक्ष्म सौन्दर्य बोध के कारण एकदम ताजे हैं। पंत जी की निम्नलिखित कविता में वसन्त की भीतरी छवियों की शिखाओं से अंकित सौन्दर्य - चित्र छायावादी कवियों की प्रकृति सम्बन्धिनी दृष्टि का परिचायक है :

चंचल पग दीप शिखा के घर,
गृह मग वन में आया वसन्त,
सुलगा फाल्गुन का सूनापन,
सौन्दर्य-शिखाओं में अनन्त !

सौरभ की शीतल ज्वाला से,
फैला उर-दर में मधुर दाह,
आया वसन्त, भर पृथ्वी पर,
स्वर्गिक सुन्दरता का प्रवाह।

पल्लव- पल्लव में नवल रुधिर,
पत्रों में मांसल रंग खिला,
आया नीली-पीली लौ से,
पुष्पों के चित्रित दीप जला।

अधरों की लाली से चुपके,
कोमल गुलाब के गाल लजा,
आया पंखुड़ियों को काले-
पीले धब्बों से सहज सजा।

छायावादी कवियों ने प्रकृति का मानवीकरण किया। प्रकृति और मानव के बीच का यह साम्यस्थापन रूढ़ वस्तु वर्णनाओं या रूढ़ अलंकारों पर आधारित नहीं है। कवियों ने अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुसार इन दोनों के

उन्हीं गुण-धर्मों को लिया जो जीवन के मर्म को छूने वाले हैं। निराला जी के निम्नलिखित गीत में प्रियतम के रूप में आने वाले वसन्त को देखकर प्रिया के समान प्रकृति के विभिन्न उपकरण उल्लास और प्यार से पुलकित हो गये हैं:

“सखि वसंत आया,
भरा हर्ष वन के मन,
नवोत्कर्ष छाया।
किसलय वसना नव-वय- लतिका,
मिली मधुर प्रियतर तरु - पतिका,
मधुप - वृन्द बन्दी पिक - स्वर नभ सरसाया।
लता - मुकुल- हार-गंध-भार- भर,
वही पवन बन्द मन्द मन्दतर,
जागी नयनों में वन - यौवन की माया।
आवृत सरसी-उर- सरसिज उठे,
केशर के केश कली के छुटे,
स्वर्ण शस्य - अंचल पृथ्वी का लहराया।”

छायावादी कवियों ने जीवन की विभिन्न अवस्थाओं और मानसिक स्थितियों को प्रकृति के तदनुरूप उपादानों के माध्यम से व्यंजित किया है। वसन्त अपने उल्लास, सौन्दर्य और मादकता के कारण यौवन का प्रतीक बन गया है। ‘कामायनी’ के काम सर्ग में वसंत के चित्रों के माध्यम से व्यक्त यौवन का रूप दर्शनीय है।

मधुमय वसंत जीवन-वन के वह अंतरिक्ष की लहरों में, कब आये थे तुम चुपके से, रजनी के पिछले पहरों में, क्या तुम्हें देखकर आते यों मतवाली कोयल बोली थी, उस नीरवता में अलसाई कलियों ने आँखें खोली थीं, जब लीला से तुम सीख रहे कोरक कोने में लुक रहना, तब शिथिल सुरभि से धरणी में बिछलन न हुई थी सच कहना, जब लिखते थे तुम सरस हँसी अपनी फूलों के अंचल में अपना कलकंठ मिलाते थे झरनों के कोमल कल कल में।

सुश्री महादेवी वर्मा की ‘धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी’ कविता में मानवीकरण के रूप में

चित्रित वसन्त रजनी का कोमल सौन्दर्य दर्शनीय है।

छायावादी युग में प्रकृति के माध्यम से तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वर भी ऊँचा किया गया। वसन्त का स्वभाव बड़ा रोमांटिक माना गया है। युग में प्रकृति के माध्यम से तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन का किन्तु गुलाम देश को इस रोमांटिक वसन्त की आवश्यकता नहीं। वह वसन्त के वीर रूप को चाहता है, रंग से नहीं रक्त से होली खेलना चाहता है। सुश्री सुभद्राकुमारी चौहान की कविता ‘वीरों का कैसा हो वसन्त’ इसी प्रवृत्ति की परिचायिका है।

छायावाद के पश्चात् का युग प्रगतिवादी युग कहा जाता है। जैसे छायावाद जीवन और जगत को देखने के लिए एक नया दृष्टिकोण लेकर आया वैसे ही प्रगतिवाद भी प्रगतिवादी युग सामाजिक यथार्थ का पक्षपाती होकर आया। उन्वावादी कविता के स्वानुभूति और कल्पना प्रसूत सौन्दर्य के स्थान पर इसने सामान्य जन-जीवन के यथार्थ चित्रण से पैदा होने वाली शक्ति और सौन्दर्य को विशेष महत्व दिया। शोषित मानव समाज के दुख- दैन्य, संघर्ष, आशा-निराशा, आदि को अंकित कर उनकी भावी विजय में आस्था रखना प्रगतिवादी कविता का स्वभाव था। उसकी दृष्टि निभृत वनों, पर्वतों और शहरों की प्राकृतिक छवियों से हटकर गाँवों के संघर्षमय जीवन के साथ-साथ फलने-फूलने वाली प्रकृति की ओर गयी। प्रगतिवादी मोड़ लेते समय पन्त जी ने इसी सत्य की ओर संकेत किया था-

देख रहा हूँ आज विश्व को मैं ग्रामीण नयन से,
सोच रहा हूँ जटिल जगत पर जीवन पर जन मन से।

इसीलिये पंत जी ने छाया-प्रकृति को छोड़कर गांवों के आसपास फैली हुई प्रकृति के यथार्थ रूप को देखा। छायावाद का कल्पना विलास अब धरती की पगडंडियों पर पैदल पैदल चलने लगा। वसन्त ग्रामीण जीवन का बड़ा मस्त समय होता है। केदारनाथ अग्रवाल ने ‘बंसती हवा’ की मस्ती की कितनी सहज व्यंजना की है। लगता

है कोई गाँव की अल्लड कुमारी खेतों में यहाँ से वहाँ तक पौढ़ रही है।

चढ़ी पेड़ महुवा,
थपाथप मचाया,
गिरी धम्म से फिर,
चढ़ी आम ऊपर,
उसे भी झकोरा,
किया कान में कू
उतर कर भगी मैं,
हरे खेत पहुँची,
वहाँ गेहूँओं में,
लहर खूब मारी,
पहर दो पहर क्या,
अनेकों पहर तक,
इसी में रही मैं।
खड़ी देख अलसी,
लिए शीश कलसी,
मुझे खूब सूझी
हिलाया झुलाया,
गिरी पर न कलसी,
इसी हार को पा,
हिलाई न सरसों,
तुलाई न सरसों

प्रगतिवाद ने प्रकृति को सदैव जन-जीवन और नवीन आस्था के परिवेश में देखा। प्रकृति कहीं पर हमारे संघर्षों की संगिनी होकर आती है, कहीं जन-जीवन के विराट रूप को व्यक्त करने के लिए पृष्ठभूमि होकर आती है, कहीं वह अपने नये उल्लास और सौन्दर्य से जनता के लिए नयी आस्था और उमंग का और नया वर्ष दोनों पर्याय से हो गये हैं। अतएव जीवन की नवता के साथ वसंत का गहरा सम्बन्ध है। त्रिलोचन का एक 'सानेट' इस संदर्भ में उल्लेखनीय है- नया वर्ष आया है, माथे पर होली की भस्म लगाये, अंगों में बहार रंगों की छाई है, अमराई में नूतन ढंगों की सिन्दूरी केसरिया

मंजरियाँ टोली की छटा बढ़ाती हैं बहार पिक की बोली की सभी कान वालों के पग में नव भंगों की बेड़ी अलख डाल जाती है इन संगों की स्मृति उतनी सुखकर है जितनी हमजोली की फूले हैं पलाश, सेमल, गुलाब, वनबेला जामुन, नीम, लिसोड़े अभिनव दल आये हैं। पीपल पाकड़ में, मतवाली हैं मैनाएँ फूल-फूल का रस लेती हैं, यह मधु मेला भला फिर कहीं ? मानव ने जो दुख पाये हैं। वे जायें, जीवन में नयी उमंगे आयें।

प्रगतिवादी वसन्त चित्रों में जीवन की शक्ति और सौन्दर्य हो अधिक व्यंजित हुए हैं। व्यक्तिवादी अतृप्त राना और कुंडाग्रस्त ददों को व्यक्त करने वाले प्रतीकों और बिम्बों के रूप में वसंत नहीं आता, वह व्यापक सामाजिक जीवन के स्पंदनों और सौन्दर्यों को रूपायित करने वाले चित्रों के रूप में आता है। प्रगतिशील कवियों ने अनेक ऐसे गीत लिखे हैं जिनमें लोक छंदों, लोक-ग्रा प्रतीकों और लोक भाषा की शक्ति और सौन्दर्य निहित है। ऐसे गीत में चित्रित वसन्त की छवि इन गीतों में देखिए :

घाट के रस्ते उस बसवट में
इक पीली-सी चिड़िया
उसका कुछ अच्छा-सा नाम है।
मुझे पुकारे, ताना मारे
भर आए आँखड़ियाँ
उन्मन यह फागुन की शाम है।

-भारती

गीतों से भरे दिन फागुन के ये गाये जाने को जी करते ये बाँधे नहीं बँधते, बाँहें रह जातीं खुली की खुली ये तो ले नहीं तुलते, इन पर ये आँखें तुली की तुली ये कोयल के बोल उड़ा करते, इन्हें थामे हिया रहता।

-केदारनाथ सिंह

फिर फागुन आ गया

उह उह उहका पलाश

परदेशी आँखियन में बन अंगार लाल लाल छा गया

हर हर हर, झर झर झर फरर फरर रंगभरी फटी चूनरी
फड़फड़ गेहूँ में स्वर लोट रहे दूर पिया बहुत दूर री
लो फिर वह भी राही बावरी
आँखों को मुड़ के भरमा गाया।

-रामदरश मिश्र

प्रयोगवादी कवि प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर कम उल्लसित होते हैं। बुद्धिवाद का आग्रह उन्हें इधर झुकने नहीं देता। प्रकृति के सौन्दर्य पर रीझना भावुकता है और प्रयोगवादी भावुकता से भरसक दूर रहना चाहता है। प्रकृति को वह कविता में स्वीकारता भी है तो अपनी उदास मानसिक परिस्थिति के परिवेश के रूप में या अपनी दमित वासनाओं और पीड़ाओं के प्रतीक के रूप में प्रयोगवादियों द्वारा अंकित वसंत के जितने चित्र मिलते हैं प्रायः सबमें उनकी टूटन तड़पन की व्यथा भीनी हुई है। वे चित्र तो इन्हीं व्यथाओं को व्यक्त करने के लिए उपलक्षण मात्रा हैं। ये कविताएँ जन-जीवन के मुक्त उल्लास से कट कर भी कवि की गहरी व्यथा की अनुभूति से सिक्त होने के कारण तथा चित्रात्मक और प्रतीकात्मक होने के कारण मर्म को भी छूती अवश्य है, एक दर्द की लकीर सी खींच जाती है। धर्मवीर भारती की कविता 'फागुन के दिन की एक अनुभूति' की कुछ पंक्तियाँ देखिये-
सहसा यह मुझको अहसास हुआ
यह सब है और किसी का
यह पगडंडी, यह गाँव-खेत, सुग्गे के हरे पंख गति जीवन
सबका सब और किसी का
मेरा है केवल निर्वासन, निर्वासन... निर्वासन !

शमशेर बहादुर सिंह की 'वसंतवती' इसी प्रकार के एकाकीपन की अनुभूति से युक्त कविता है। कुँवर नारायण की 'वसन्त की लहर' को भी इस दृष्टि से देखा जा सकता है। अज्ञेय ने यद्यपि 'तुम कहाँ हो नारि', 'भूमि के कंपित उरोजों पर', आदि कविताओं में प्रकृति के चित्रों के माध्यम से नंगी मानव-वासना को ही चित्रित किया है परन्तु वसंत सम्बन्धी अपनी कुछ कविताओं में

तथा 'ओ पिया पानी वरसा' जैसी वसंतेतर प्रकृति कविताओं में उन्होंने प्राकृतिक सुषमा का सहज रूप चित्रित करते हुए जीवन के स्वच्छ और नूतन प्रवाह को देखा है। इनमें व्यक्ति की घुटन नहीं, सामाजिक जीवन का उन्मुक्त वेग है।

शिशिर ने पहन लिया वसंत का दुकूल
गन्ध-वह उड़ रहा पराग- धूल झूल,
काँटों का किरिटी पारे बने देवदूत
पीत वसन दमक उठे तिरस्कृत बबूल।
अरे ऋतुराज आ गया।
सिद्धि नहीं दौड़ते हैं किन्तु सिद्धिदूत
वायु चल रही है आज सिन्धु मंत्रपूत
स्तब्ध हैं प्रतीक्षमान दिग्बधूटियाँ
जीवन प्रवाह बह रहा है अनाहूत !
क्योंकि ऋतुराज आ गया।

नयी कविता में जो कवि प्रगतिवादी परम्परा से आये हैं वे आज भी कभी गीतों, कभी मुक्त छंदों के माध्यम से प्रकृति के विविध चित्रों को नवीन अर्थमत्ता के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं। जो कवि शुद्ध प्रयोगवादी परम्परा के उत्तराधिकारी हैं वे बौद्धिकता के आग्रह से गीतों और प्रकृति चित्रों को तिरस्कृत कर रहे हैं। अपनाते भी हैं तो अपनी विकृतियों के साँचे में ढाल कर उन्हें प्रकृति के उदात्त भव्य स्वरूपों में भी अपनी गंदी रुचि के कारण या प्रतिक्रिया के आवेश में गंदगी ही नजर आती है दूसरी ओर उन गीतकारों का दल है जो पिटी-पिटाई पद्धति पर शुद्ध रोमानी लहरों में ढेर के ढेर सस्ते मौसमी गीत गाये जा रहा है। दैनिकों में ये मौसमी गीत देखे जा सकते हैं।



वसंत का एक दिन

रामदरश मिश्र

लगता है जयराम फिर आ गया है। तिर तेंतें तिर तेंतें कुकुही (छोटी सारंगी) बज रही है। एक बुदबुदाहट गांव में रेंगी लेकिन कोई हलचल नहीं हुई। हां, कुछ बच्चे कौतूहलवश वनखंडी की ओर दौड़े और जयराम को घेरकर खड़े हो गए।

पलाश फूल गए थे, वनखंडी में जैसे आग लग गई हो। फागुनी हवा सूखे पत्तों को लुटाती, जलते फूलों को अपनी सांस से और दहकाती, फसलों को गुदगुदाती सररिटे भर रही थी।

जयराम थोड़ी देर तक इन फूलों को सुन्न दृष्टि से देखता रहा, फिर एक पेड़ के नीचे बैठ गया। कुकुही को छुआ, वह सिहरी, फिर सिसकने लगी, फिर उमड़-घुमड़कर रोने लगी। जयराम देर तक कुकुही में डूबा रहा-तिर तितें तिर तेंतें.।

काफी देर बाद अपने से बाहर आकर उसने सामने देखा। गांव के कुछ बच्चे खड़े थे। मुसकुराया। बच्चे कुछ देर तक उसे देखते रहे फिर 'पगला' कहकर भाग खड़े हुए।

जयराम फिर मुसकुराया। उसने फिर सामने फैंले लहलहाते खेतों को हसरतभरी नजर से देखा जो अब पराए हो गए थे। वह धीरे-धीरे उठा, खेत के पास गया। कुछ क्षण मौन भाव से देखता रहा, झुककर खेत से एक मुट्टी मिट्टी उठा ली; सिर पर लगाई, फिर फफककर रो पड़ा। गेहूं की एक बाल तोड़कर अपने गालों पर फेरता रहा। धीरे-धीरे अपनी जगह पर लौट आया। कुकुही फिर कांपी और रो पड़ी...

फु- फु- फु-रे- ए- ए...

कुकुही फिर चुप हो रही थी। जयराम खयालों में डूब रहा था... हां, यही उसका गांव है, जहां वह पैदा हुआ है,

पला है। आज फिर साल भर बाद लौटा है। मगर जाए कहां? कोई तो अपना नहीं। वह धीरे-धीरे घुटनों पर सिर झुकाते-झुकाते कहीं खो गया।

सामने के खेत तो उसी के हैं, जिन्हें चाचा ने धूर्तता से हथिया लिया। वह मुसकुराया ... चाचा नामक चीज भी ऊंचे दरजे की होती है। वाह रे चाचा, तुमने मेरे पिता जी के प्यार का बदला चुकाया। मरते हुए पिताजी को कैसे खूब सुबक-सुबककर वचन दिया था - "मैं इस लड़के को अपने पुत्र से बढ़कर प्यार करूंगा, आपके चरणों की कसम, भाई साहब!" वाह रे कसम और वाह रे चाचा ! मां तो पहले ही मर चुकी थी। जब पिताजी मरे तब वह आठ बरस का था। पिता अपनी इकलौती संतान के लिए कितने-कितने सपने पाले हुए थे। वाह रे जयराम, तूने खूब उन सपनों को पूरा किया। वह फिर मुसकुराया। पिताजी के मरते ही चाचाजी को उसकी आंखों में सपनों की जगह कंकड़-पत्थर दिखाई पड़ने लगा। "पढ़ेंगे सरऊ-डिपटी कमिश्नर होंगे।" और थप्पड़ मारकर किसी काम के लिए भेज देते।

पिताजी उसके सपनों के लिए आठ बीघा जमीन और कुछ पैसे छोड़ गए थे जिसे चाचाजी ने अपना लिया और बात-बात में थप्पड़ से पीटकर कहते- 'अनाथ हो गए थे। न अपनाया होता तो गली-गली भीख मांगते फिरते।' उसे आज भी चाचा-चाची के गरम-गरम थप्पड़ अपनी कनपटियों पर जलते हुए गुड़ की तरह चिपटे हुए मालूम पड़ते हैं। काश, वह अनाथ ही रहा होता तो उसके आठ बीघे खेत तो उसके साथ रहे होते। अनाथ होकर वह अपना सब कुछ गंवा बैठा। अभी भी उसके पेट में बचपन की भूख की कड़वाहट खौल रही है। हमदर्द चाचा - परिवार और गांव वालों को घिन-भरी नजरों और लांछन - भर फटकार की तेज धार उसके कान के परदे को कर्क-कर्क चीर रही है।

उसका बचपन जानने वाले जानते हैं कि वह उगते हुए फूल - सा होनहार था, सुंदर था, स्वस्थ था, लेकिन चाचा-चाची के व्यवहार ने उससे उसका सब कुछ छीन लिया। इतनी कठोर घृणा और पीड़ा ने उसे सुन्न बना दिया। धीरे-धीरे उसके लिए फटकार और लांछन का कोई अर्थ नहीं रह गया। वे केवल शब्द रह गए थे। मार का मतलब किसी चीज से टकराना रह गया था।

वह खुद सोचता था - उसे क्या हो गया ? काम धाम में उसका मन अब क्यों नहीं लगता। डांट-डपट खाकर भी घूर की तरह बैठा रहता है। मास्टर साहब हैरान थे कि इसकी सारी अकल कहां चली गई। पढ़ने-लिखने में मन ही नहीं लगता। मास्टर साहब ने उसे प्यार से समझाया भी, डांटा भी, मारा भी, लेकिन कुछ असर नहीं हुआ था। एक दिन मास्टर की बेंत से लहलुहान होकर उसने पढ़ाई छोड़ दी।

चाचा-परिवार ने खूब गालियां दीं - “हरामजादा, आवारा, पढ़ाई छोड़ दी, बाप का नाम डुबा दिया। सुसर, अब घूमो कुत्ते की तरह गली-गली।” लेकिन वह जानता है कि परिवार खुश ही हुआ होगा। लोक-लाज से स्कूल जाने की छूट जरूर देता रहा, लेकिन पढ़ने-लिखने का सारा समय छीनकर उसे घर-दुलार की सेवा में झोंक देता था। दरअसल इस परिवार ने तो यही सोचा होगा - अच्छा हुआ कि पढ़ाई छोड़ दी, नहीं तो पढ़-लिखकर दुश्मन ही बनता।

हे...हट्ट...हट... उसने देखा उसके खेत में किसी का बैल चर रहा है। वह हांकने के लिए दौड़ा। बैल हांकने के बाद वह मुसकुराया - ‘उसका खेत वाह रे जयराम, अभी अपने खेत से मोह नहीं छूटा!’ उसका चार बीघे का चक सामने समुद्र की तरह उमड़ रहा था और वह उसके बीच खड़ा होकर भी जैसे अजनबी था।

वह धीरे-धीरे अपने खेत के विस्तार की ओर सरकने लगा। तरह-तरह की फसलें,.... सोने का रंग पकड़ते गेहूं, पीले-पीले फूलों से लदी सरसों, नीले, पीले, सफेद, लाल रंगों से दमकती मटर, तितली के समान नीले फूलों वाली तीसी और एक किनारे पर पीले फूलों और छीमियों से लदी रहर और उसके बाद दूसरे के खेतों में रहर के जंगल का एक लंबा सिलसिला...

कितना अच्छा लगता है यह मौसम, लगता है इस जाते हुए मौसम को बांध लिया जाए। धुत पगले, किसी ने जाते हुए मौसम को भी रोका है।

कितने सुंदर हैं ये मटर के खेत मोटी-मोटी छीमियां उसे पेट में कुछ बेचैनी महसूस हुई। उसने कल शाम से ही कुछ खाया नहीं। इच्छा हुई छीमियां तोड़ ले। उसी के तो खेत हैं। फिर वही मेरे-तेरे का चक्कर लगाया जयराम अगर छीमियां तोड़ते हुए चाचा पकड़ ले तो! पकड़े, ससुरे, उनके बाप का नहीं, मेरे बाप का खेत है। उसे अपने पर गुस्सा आया कि वह क्यों अपने खेत छोड़कर भाग खड़ा हुआ। अगर उसके चाचा ने उसके अनजाने ही उसके खेत अपने नाम करा लिए और गांव वालों ने उसका साथ नहीं दिया तो वह मर तो सकता था। तब नहीं तो आज मरेगा। वह छीमियां तोड़ेगा। देखें तो चाचा क्या करता है? आज वह जान देगा या जान लेगा।

उसने ढेर सारी छीमियां तोड़ीं, अंगोछे में भर लीं और किनारे खड़ा होकर छील-छीलकर खाने लगा। अपने खेत की छीमियां हैं अपनेपन का स्वाद ही और होता है।

खाने के बाद प्यास लग आई। चलो कहीं पानी पी लो, जयराम कहां पियोगे? उसे याद आया, गांव के बाहर का कुआं। उसके पास कोई हरिजन का घर है। वहीं पानी पीएगा।

कुएं के पास पहुंचा तो एक हरिजन पानी भर रहा था। पुकारा - “कोदई !”

“अरे कौन, जयराम बाबू ! बहुत दिन पर दर्शन हुआ।”

‘हां हां, कोदई, अब इस गांव में मेरा क्या रखा है? फिर भी न जाने क्यों चला आता हूं।’

‘हां, बाबू, ठीक कहते हैं, अरे अपनी जन्मभूमि है ना।’

‘हां, है तो।’ वह मुसकुराया। “जरा पानी पिलाओ, प्यास लगी है।”

“पानी मैं पिलाऊं ? अरे बाबू ई का कहते हैं? हम अच्छत हैं, हमारे हाथ का पानी पिंएंगे आप?”

“अछूत तुम नहीं हो, ये गांव वाले हैं। तुम लोग पवित्र हो। पानी पिलाओ, बहुत प्यास लगी है।”

“बाबू, मेरा हियाव नहीं कर रहा है।”

जयराम ने झपटकर लोटा निकाला। कोदई के गगरे में से पानी ढाला और गट-गट पी गया। कुछ हरिजन मरद-औरतें चकित होकर देखते रहे और जयराम ने एक डकार ली और मुसकुराया।

पास के पेड़ की डाल पर कोयल बोली - कुहू कुहू .

“कुहू कुहू” उसने दोहराया।

“तबीयत हरी हो गई, कोदई।” और उसने एक राम अलाप दिया -

दिन- रतियां सांझ सकारे
कोइलिया पुकारे
सबके पियावे ले अमरित बोलिया
विरहिनिया के ताना मारे
कोइलिया पुकारे

“वाह जयराम बाबू, का चउताल गाया है! जब से आप गांव से गए, गांव सूना हो गया।”

“क्यों कोदई, मेरे जाने से गांव क्यों सूना होगा? मैं तो इस गांव में सबसे आवारा, निकम्मा, लंपट आदमी था। इस गांव में तो एक से एक इज्जतदार लोग हैं। मेरे चाचा नारायण जी हैं, सभापति श्यामबिहारी जी हैं, नेता भगवान जी हैं, पुरोहित लक्ष्मीधर जी हैं, मास्टर राजकिशोर जी हैं। इतने इतने महारथियों के होते गांव कैसे सूना हो गया, कोदई ?”

“सब लोग तो हैं बाबू, लेकिन आप नहीं हैं। अब का बताया जाए कि ये लोग का हैं। ये सभी नंबरों हैं दूसरों का छीन झपटकर अपना घर भरना ही इनका काम रह गया है। आपके साथ जो सलूक इन लोगों ने किया, वह का आदमी का सलूक था। आपके चाचा ने बेईमानी से आपका खेत ले लिया और आपकी इतनी दुरगति की, ये सभापति, नेता, मास्टर, पुरोहित क्यों नहीं बोले ? ये लोग धरम-करम को लेकर इतना लेक्चर झाड़ते हैं, लेकिन खुद कितना अधरम

करते हैं, इसे कई नहीं देखते। आपने मल्लाह की लड़की से शादी करनी चाही तो इन लोगों को गांव की इज्जत खतरे में लगी और जब पुरोहित के लड़के को चमारों ने बांधकर मारा और उसके मुंह में अपनी हांडी का जूठा भात डाल दिया, तब इनकी इज्जत नहीं गई? ससुरा आए थे चमरौटी में घाटि करने। जब मास्टर राजकिशोर की बेटी दूसरे गांव के पासी के साथ भागी जा रही तब इज्जत नहीं गई, जब सभापति का लड़का नेता जी की लड़की के साथ पकड़ा गया तब इज्जत नहीं गई ?’

“बड़े-बड़े पुण्य कार्य हो रहे हैं कोदई, इस गांव में मुझे कुछ मालूम ही नहीं था। और मालूम होकर भी क्या होगा? अब तो मेरी दुनिया उजड़ चुकी है।”

“दुनिया आप ही की नहीं उजड़ी है कितनों की उजड़ गई है। हरिजनों की तो जान सांसत में है, बबुआ! पुरोहित के बेटे की पिटाई हुई तो हरिजनों पर आफत आ गई। बड़ी जाति के लोगों को यह देखकर अचरज होगा कि घाटि करने के जुर्म में चमार उन्हें पीट सकते हैं। अब तक तो वे हमारी बहू-बेटियों से खिलवाड़ करने का हक समझते रहे हैं। लेकिन अब नहीं सहा जाएगा। हमारी टोली के कुछ लड़के भी शहर में पढ़ने लगे हैं और उन्होंने ही चमरौटी में आग पैदा की है। बड़ी जात के लोगों ने उन्हें मारा भी, उनके घर चोरियां भी करवाई, और क्या-क्या नहीं किया।”

“कोदई, तुम इतना बढ़ - बढ़कर बोल रहे हो, कोई सुन लेगा तो?”

“कोई सुन लेगा तो क्या हो जाएगा? बबुआ, अब हरिजन टोली वह नहीं रही। हमें इन बड़आदमियों की फिकर नहीं है। हमारे पास क्या है जो लेंगे। हमारे पास मेहनत है, उसके लिए ये लोग सौ चक्कर काटते हैं। इन्हें अब मजूरे नहीं मिलते। हम लोगों के बच्चे शहर निकल गए हैं। वहां से कुछ कमा-धमाकर भेजते हैं। इहां तो मजूरों का अकाल पड़ता जा रहा है। एही लिए ये बाबू लोग हम लोगों को गालियां भी देते हैं और चिरौरी भी करते हैं। अब हम लोगों ने भी ठान लिया है कि जिएंगे तो आदमी की तरह जिएंगे, नहीं तो मर जाएंगे।”

जयराम ने अनुभव किया कि इन दस वर्षों में गांव

कितना बदल गया है। एक ओर बड़ी जाति वाले पहले से ज्यादा हरामी हो गए हैं, दूसरी ओर छोटी जातियों में जीने की आग पैदा हो गई है।

“आप कहां रहते हैं जयराम बाबू, कुछ अपनी तो बताइए।”

“जोगी हूं, कोदई, मेरा क्या ? जब से इस गांव से निकला हूं, भटक ही रहा हूं। कोई एक ठेकाना तो है नहीं, कभी यहां हुआ कभी वहां हुआ। कभी कोई रूप धरता हूं, कभी कोई रूप। कभी कुछ खाने को मिल जाता है, कभी भूखा ही सो जाता हूं। कभी कोई काम कर लेता हूं, कभी केवल घूमता हूं।”

“अरे हां बबुआ, हमने तो खाने-पीने को पूछा ही नहीं। और पूछूं भी क्या? मैं आपको खिला भी तो नहीं सकता हूं।”

“नहीं कोदई, सो बात नहीं, मुझे तुम्हारे यहां खाने में क्या एतराज हो सकता है। मेरे लिए तुम नहीं, वे सब अच्छत हैं। मैंने खा लिया है।”

“झूठ बोल रहे हैं। कब से तो आप इहां बैठे हैं, खाना कब खा लिया? बिटिया ! उसने पुकारा। “हां बाबू” बेटी ने झांककर जवाब दिया। खाना ले आना। एक थाली जयराम बाबू के लिए भी।”

“नहीं-नहीं मैं नहीं खाऊंगा। खा चुका हूं।”

तब तक उसकी बेटी दो थाली में जौ की मोटी-मोटी रोटियां और मटर की दाल लेकर हाजिर हो गई।

“नहीं, मैं नहीं खाऊंगा, बेटी!”

“मैं जानता था बाबू कि संस्कार बदलना बहुत मुश्किल है। ले जा बेटी, ई थाली ले जा।”

अब तक जयराम ने देखा - उधर से उसके चाचा आ रहे हैं। जयराम ने झपटकर थाली ले ली और मुसकुराकर खाने लगा। कोदई भी मुसकुराया।

“धुत् साला, थू !” कहकर उसके चाचा आगे बढ़ गए।

“बहुत बढ़िया रोटी पकाई है बेटी ने। वाह वाह!” जयराम ने जोर से कहा। उसके चाचा ने मुड़कर देखा। जयराम मुसकुरा पड़ा। कोदई भी मुसकुरा रहा था।

“धुत् साला, चमार हो गया। और इस चमार की हिम्मत तो देखो कि अपने घर खिला रहा है। देखूंगा।” कहकर चाचा आगे बढ़ गया।

“क्या नाम है बिटिया का ?”

“गोमती। सातवीं में पढ़ती है।”

“वाह-वाह, बहुत अच्छा !”

“अरे अच्छा क्या, सारा गांव ताना मारता है कि साले चमार - सियार अब अपनी लड़कियों को पढ़ाकर कलट्टर बनाएंगे।”

“बकने दो सालों को।”

“इस स्कूल में भी सबसे किनारे बैठाई जाती है। बाबुओं की लड़कियां अपने साथ नहीं बैठातीं और उनके भाई लोग मेरी बेटी का गोड़ धोकर पीने के लिए तैयार हैं। छिप छिपकर इशारे करते हैं, पइसा दिखाते हैं। लेकिन गोमती बहुत तेज है। एकाध की मरम्मत भी कर चुकी है।” फिर उसके चेहरे पर चिंता का भाव उग आया—“लेकिन इन जानवरों के बीच में कब तक वह अपनी लाज बचाएगी। सोचता हूं अब इसकी शादी कर दूं।”

“अरे अभी पढ़ने दो। पढ़कर कुछ बन जाएगी।”

“नहीं बाबू, हमारी जाति में तो बहुत छोटेपन में ही शादी हो जाती है। उस लिहाज से तो गोमती बहुत बड़ी हो गई है। कुछ बनना हम लोगों की तकदीर में कहां है?”

“अच्छा, मैं चलूं, कोदई !”

“कहां?”

“बस रमता जोगी बहता पानी - इनसे ‘कहां’ नहीं पूछा जाता।”

उसने लोटे में पानी भर लिया और चल पड़ा बनखंडी की ओर।

कितनी प्यारी लड़की है गोमती ! कितनी सुंदर, कितनी साफ, कितनी सुशील! पढ़ने में तेज ! आखिर इसका पाप इतना ही है न कि हरिजन कुल में पैदा हुई है। छोटी जाति के कुल में पैदा होने का पाप फुलवा ने भी तो किया था। उफ, यह एक पाप क्या-क्या सजा नहीं देता। हे प्रभो, यह सजा गोमती को मत देना। गोमती पगली, तू भी कहीं किसी मुझ जैसे पागल को दिल न दे बैठना।

अंगिया दरक मोरी जाए
बलम तोसे होरी न खेलबों
कोई राहगीर गाता हुआ निकल गया।

वाह भाई वाह, क्या फाग गाया। वह धीरे-धीरे यह कड़ी गुनगुनाने लगा। धीरे-धीरे उसकी गुनगुनाहट में एक दर्द उभरने लगा। स्मृति की एक घाटी खुलने लगी।

उसने फुलवा से कहा था, 'इस साल मैं तुझसे होली खेलूंगा।'

"धत्" कहकर वह लजा गई थी दूसरे दिन जब वह उसका खेत काट रही थी तो जयराम ने मजूरनों को ललकारा - "अरे, फागुन के महीने में तुम लोग क्या मरे मन से खेत काट रही हो, कुछ गाओ। बड़े भाग्य से यह महीना आता है।"

"गा रे, गा रे, तू गा रे..." सब एक दूसरे को काँचने लगी थीं कि फुलवा ने शुरू किया-

अंगिया दरक मोरी जाए
बलम तोसे होरी न खेलबों

इतना मीठा स्वर है इसका, उसे मालूम न था। फुलवा न गाते-गाते कनखियों से उसकी ओर देखा और शरारत से मुसकुरा उठी। वह भीतर तक दहक उठा।

फुलवा और उसकी साथिनें गाती रहीं और वह न जाने कहां खो गया था। जब गीत बंद हुआ तो जैसे सोते से जागा - "वाह-वाह फुलवा, क्या गला पाया है।"

फुलवा शरमा गई। क्या दृश्य था वह ! फागुनी हवा सब कुछ उड़ाती भागी जा रही थी। कोई कहां तक आंचल संभाले, कोई कहां तक मन संभाले। होली के दिन वह फुलवा

से होली नहीं खेल सका। रिवाज तो मरदों का मरदों से और औरतों का औरतों से होली खेलने का है। वह किस बहाने उससे होली खेलता ! वह लोटे में रंग लेकर लड़कियों से साथ उसके दरवाजे पर से गुजरी तो दोनों की एक नजर मिली। फुलवा ने सबसे छिपकर उसे अंगूठा दिखा दिया कि लो खेल ली न मुझसे होली।

वह लोटे में पानी लेकर फिर वनखंडी में पहुंच गया और अपना बाजा निकाल कर छेड़ा - 'किंर किंकी किंर किंकी', हवा लोटती रही, उसकी सारंगी का स्वर लोटता रहा, एक अजीब मोहक उदासी वातावरण में फैली हुई थी।

एकाएक उसके पेट में दर्द हुआ और वह लोटा लेकर अरहर के खेत की ओर चल पड़ा। वह सघन खेत के काफी बीच में पहुंच गया। एकाएक दो व्यक्ति खेत में से उठकर भड़भड़ाकर भागे। जयराम ने देखा एक लड़का एक लड़की। उसने उन्हें पहचान लिया कि लड़के महोदय और कोई नहीं उसके चचेरे भाई हैं, चाचाजी की शान और इज्जत और लड़की सभापति जी की लड़की है। गांव के दोनों इज्जतदारों की इज्जत अरहर के खेत में पनप रही है।

क्या दुनिया है ! कैसा झूठ है चारों ओर राज करता हुआ ! सत्य मार खाने के लिए ही बना हुआ है क्या? इन दोनों इज्जतदारों ने उसे मारा था, वे ही उसके देश निकाले और फुलवा की मौत के जिम्मेदार हैं। अब ये साले अपने-अपने घरों में चलने वाले घिनौने व्यापारों को नहीं देखते। इन्हें कोई कहे भी तो झूठ कहकर टाल देंगे और कहने वाले को ही दोषी ठहरा देंगे। सब कुछ ठीक है, भाई-बहन का व्यभिचार भी ठीक है, यदि वह अंधेरे में चलता रहे। आखिर चाचा नारायण जी के सुपुत्र और सभापति श्यामबिहारी की सुपुत्री भाई - बहन ही तो हैं।

थू है इन इज्जतदारों पर। इच्छा तो हो रही है अभी चलकर गांव में शोर करे और इन इज्जतदारों का भंडोफोड़ करे, लेकिन कौन पतियाएगा? और क्यों करे? उसे क्या लेना-देना है इस गांव से। उसका तो सब कुछ लुट ही गया। अब क्या है जिसका मोह पालकर यह सब कुछ करे।

वह आकर पलाश की छांह में लेट गया। फुलवा का पलाश के फूल-सा प्यारा - प्यारा रूप उसकी आंखों में भर

उठा। उसे देर तक संभाले रहा फिर धीरे-धीरे अतीत की घाटियों में भटकने लगा।

पढ़ाई-लिखाई से छुट्टी पाकर वह निर्द्वंद्व हो गया था। वह घर से बाहर निकल जाता तो या तो अहीरों के लड़कों के साथ मिलकर गुल्ली-डंडा खेलता या किसी पेड़ की एकांत छाया में सोता रहता। शाम को जब घर पहुंचता तो पुरस्कार में उसे मार और उपवास का प्रसाद मिलता। किंतु वह इसका आदी हो गया था। चाचा-परिवार उससे आजिज आ गया था। मगर बहुत झल्लाने के बावजूद उसे झेलना ही पड़ता है। आठ बीघे कम तो नहीं होते।

उसकी शोहरत गांव से बाहर जाकर रिश्तेदारों में भी फैल गई। कौन कसाई बाप होगा जो ऐसे आवारा के हाथों अपनी बेटी सौंपेगा। चाचा-परिवार भीतर ही भीतर खुश था शादी न होने से। उसकी शादी से अधिक उसके आठ बीघे खेतों का मूल्य उसके लिए ज्यादा था।

बीस-इक्कीस वर्ष का होने के बावजूद उसकी शादी नहीं हुई। वह निरंतर एकांत-प्रेमी होता गया और गुमसुम रहने लगा। परिवार की उपेक्षा, गांव की उपेक्षा, जरजवार की उपेक्षा। तनहाई काटने के लिए उसने अपने में डूबना शुरू किया। अपने में डूबकर धीरे-धीरे कलाकार होने लगा। एक दिन भीख मांगने वाले एक लड़के के पास कुकुही देखी। उसका स्वर उसे बहुत दर्दिला लगा, अपने स्वर जैसा ही। उसने उसे बनाने का तरीका पूछा। कई बार बनाने की कोशिश की और एक बार सफल हो गया। वह कुकुही पर हाथ फेरता और एक दिन ऐसा आया कि बिना किसी गुरु के ही वह उस कुकुही में से दर्द की लहरें पैदा करने लगा। जब कभी उसका मन कुकुही से ऊबता तो चाकू से बांस काट-काटकर उसे नई-नई छड़ी का आकार देता। कभी टेढ़ी, कभी सीधी, कभी वकुलीदार, कभी मुठियादार। इससे मन ऊबता तो कभी-कभी सूई के कपड़े के टुकड़ों को जोड़-जोड़कर बास्केट, जैकेट और टोपी सीता। उसने उन दिनों अपने लिए एक कुबरीनुमा छड़ी, एक बास्केट, और बांस के पत्तों और कपड़ों को मिलाकर एक हैट बना लिया था। इस पोशाक में वह पूरा जोकर लगता था। वह कभी-कभी गांव के बाहर वाले टीले पर बैठकर सामने फैले हुए वनखंडी के अगाध वीराने में कुकुही पर दर्दिला राग छेड़ देता- जैसे किसी को पुकार रहा

हो। कुकुही का स्वर भटक भटक कर व्यर्थ लौट आता। तब वह उदासी की सांस खींचकर कहीं चल देता।

वैसे ही वह उस दिन भटक रहा था। फागुनी हवा वनखंडी के पलाशों को लहका रही थी। एक लड़की वनखंडी में लकड़ी चुनने आई थी। उसकी छवि देखकर वह लड़की मुंह में आंचल ठूंसकर हंस रही थी। उसकी निगाह उधर पड़ी तो वह सहम गई। उसकी हंसी बंद हो गई थी किंतु लगता था कि उसके दबाव को तोड़कर उसकी हंसी अब फूट पड़ेगी, तब फूट पड़ेगी। वह ठहर गया। कौन है यह लड़की? इसे कभी देखा नहीं। बाल खुले हुए, सत्रह - अठारह साल की गोरी स्वस्थ लड़की। सुंदर चेहरा वसंत का एक दिन धूप में तमतमाकर पलाश का फूल बन रहा है। उसे देखकर हंसती क्यों है?

“कौन हो तुम? कहां रहती हो?” उसने पूछा।

उस लड़की ने मुसकुराते हुए उसके गांव की ओर इशारा किया।

“यहां! मेरे गांव में ? मगर तुम्हें कभी देखा नहीं।”

“मैं महीने भर से आई हुई हूं। मेहमान हूं।”

“किसके यहां।”

“गोकुल माझी के यहां।”

“क्या लगती हो उसकी ?”

“साली।”

“तो तुम एक महीने से आई हुई हो दिखाई नहीं पड़ी?”

वह लड़की उसकी जोकरी छवि पर ठठाकर हंसती हुई बोली - “दिखाई पड़ना जरूरी है क्या? और आप तो अपनी ही दुनिया में खोए रहते हैं, दूसरों को जानने की फुरसत ही कहां है? लेकिन मैं जब से आई हूं, तभी से आपको जानती हूं। और मुझे मालूम है...’ वह वाक्य पूरा किए बिना टिं-टिं-टिं करके हंसने लगी।

वह कुछ गंभीर हो गया ! बोला- “तो तुम मेरे बारे में सब कुछ जानती हो। चलो अच्छा ही हुआ। तुम्हीं क्या सभी

समझते हैं कि मैं अपनी ही दुनिया में खोया रहता हूँ। लेकिन कोई यह नहीं सोचता कि मेरी कोई दुनिया है भी कि नहीं। अपनेपन की भूख बहुत भयानक होती है, लड़की ! इस कुकुही की टेर में उसी भूख को भूलता-फिरता हूँ। मुझे सभी भोंदू, बेवकूफ और पागल समझते हैं, बस आदमी ही नहीं समझते। सब हंसते हैं, हंसो, तुम भी हंसो। मैं किसी की हंसी की परवाह नहीं करता हूँ।”

लड़की की हंसती हुई आंखें धीरे-धीरे नम हो आईं। उसे जैसे उसके दर्द में अपना ही दर्द भीगता हुआ जान पड़ा। एक पलाश का फूल हवा में नाचता हुआ उस लड़की के सिर को छूता हुआ उसकी छाती से जा टकराया।

“अच्छा, जाओ लड़की, कोई किसी को दुखी क्यों करे?” कहकर वह आगे बढ़ गया। दो कदम जाकर रुक गया और मुड़कर पूछा - ‘क्या नाम है तुम्हारा?’

“फुलवा।”

“अभी दो-चार दिन रहोगी ?”

“अब यहीं रहूँगी।”

उसने अपनी कुकुही को छेड़ दिया, कुकुही झनझना उठी। फुलवा देखती रही और देखती रही पलाश के फूल धूप में कुछ और चटक गए थे।

उसे ऐसा लगा कि उसके सूनपन में कोई आग लगा गया हो। उस दिन के बाद उसके भीतर एक अजीब उत्साह भर गया था, वह फुलवा को देखना चाहता था, मिलना चाहता था, लेकिन न जाने क्यों एक अज्ञात संकोच उसे घेर लेता था। वह सोचता-न जाने क्यों फुलवा फिर इस वनखंडी में लकड़ी बीनने नहीं आई। क्या उससे डर गई या उसकी किसी बात का बुरा मान गई?

वह वनखंडी में बैठकर कुकुही बजाता और लगता कि उसके हर स्वर में फुलवा का नाम ही झनझना रहा है। वह अब अधिक प्रसन्न दीखने लगा था, लोगों से हंस-हंसकर बातें भी कर लेता था। लोगों के मजाक का उत्तर मजाक में देता था। जोकरी रूप भी छोड़ दिया था। वह फुलवा से मिलना चाहता था। वह कभी-कभी दिखाई पड़ जाती थी लेकिन बोले बिना चली जाती थी।

मंजरियों से लदी अमराई के एकांत में एक शाम फुलवा उसे मिल गई। उसने हिम्मत के साथ उसे रोक लिया।

“बुरा मान गई, फुलवा !”

“ना-ना बुरा क्यों मानूँगी?” कहकर वह लजा गई। उसके गाल पलाश के फूल बन गए। वह दूसरी ओर मुंह करके दाहिने पैर के अंगूठे से जमीन कुरेदने लगी।

“फुलवा, पता नहीं, मुझे क्यों लगता है कि तूने मेरे जनम जनम के अंधकार में एक किरन फेंक दी है। तेरा एहसान कभी नहीं भूलूँगा।”

फुलवा की लज्जा और गाढ़ी हो गई, उसने आंखें गड़ाए - गड़ाए ही कहा- “ना-ना, जय बाबू, इसमें एहसान की क्या बाता है ? हां, मन में यह तड़प जरूर उठती है कि मैं आपके किसी काम आ सकती।”

“तुम्हें ऐसा क्यों लगता है, फुलवा ? सारी दुनिया तो मुझपर थूकती है, गालियां देती है।”

“यह तो मुझे नहीं मालूम जय बाबू, लेकिन जिस दिन आपसे भेंट हुई उसी दिन से न जाने मुझे क्या हो गया? उसी दिन से लगता है कि मेरे भीतर जमी हुई कोई सतह टूट गई और एक धारा नीचे से ऊपर आना चाहती है।”

“यही बात तो मेरे साथ भी हुई, फुलवा ! न जाने वह कौन तार है जो एकाएक हम दोनों के बीच जुड़ गया।”

“वह तार दरद का है, जय बाबू ! जो दरद आपका है, वही मेरा है। आपको देखते ही मुझे लगा कि मैं अकेली नहीं हूँ, कोई मेरे जैसा भी है।”

दोनों चुप हो गए।

“आप नहीं जानते जय बाबू, मेरे दरद को, लेकिन आपका दरद उसे जानता है। मैं जनम की दुखियारी हूँ, जय बाबू ! पैदा होते ही मैंने एक के बाद एक भाई और बपई को खा लिया और शादी के बाद मरद को खा गई। कोई बच्चा भी तो नहीं हुआ जिसके सहारे जिनगी काटती। हाय, बच्चे मुझे बहुत प्यारे लगते हैं।”

“तू खा गई, पगली ? अपने को इस कदर पापी बनाने

से क्या फायदा?”

“में नहीं बना रही हूँ, दुनिया बना रही है। दुनिया की गाली खाते-खाते मैं यह मानने लगी कि मैं डायन हूँ, जहां जाती हूँ खा जाती हूँ। वैसे मेरा मरद मुझे बहुत मानता था लेकिन उसके मरने के बाद मेरी जो दुरदसा हुई उसे मत पूछिए, जय बाबू! मैंने अपनी बहन को आंसू से भीजा हुआ सनेस भेजा कि ‘बुला लो, नहीं तो मैं डूब मरूंगी। उसने सनेस भेजा - चली आओ, वहां नरक में क्या पड़ी हो?’ मैं रात के अंधेरे में भाग खड़ी हुई। यहां आई तो बहन ने दूसरी शादी के लिए कई बार कहा, लेकिन मुझे अब तो आदमी से डर लगने लगा है लेकिन न जाने आप में क्या देखा उस दिन, जिसे दुनिया नहीं देख पाती।

“बस-बस फुलवा इतना बहुत है। इतने विश्वास पर तो मैं पूरा जीवन हंसते-गाते काट दूंगा। बस मुझे इतना लगा करे कि मैं किसी के लिए जी रहा हूँ, किसी के लिए मर रहा हूँ।”

“इतना बड़ा विश्वास दिला सकूँ, मुझमें ऐसा कौन-सा गुन है, जब बाबू! मैं छोटी जाति की, अभागिनी, दूसरे के आसरे पलने वाली अनाथ लड़की। इतनी बड़ी जिम्मेवारी का निबाह क्या कर पाऊंगी, जय बाबू ? डर लगता है।”

“अरी लड़की, मैं किसी से डरता थोड़े न हूँ। दुनिया का धरम-करम बहुत देख लिया! बड़ी जाति असल में कितनी सच्ची और पवित्र है -- यह मुझसे अधिक कौन जान सकता है, फुलवा! मैं उसे ठोकर मार दूंगा, तुम्हारे लिए मैं मिट जाऊंगा, फुलवा! बस, जरा-सा अपना विश्वास पकड़ा दे।” कहते-कहते वह हांफने लगा।

उसकी आंखों में एक उल्लास चमक आया। फुलवा न जाने क्या गुमसुम सोच रही थी।

“एक बात कहूँ, बाबू मानोगे ?”

“कहकर देख ले, फुलवा !”

“तुम कुछ घर-गृहस्थी का काम संभालो। तुम्हें कोई आवारा कहता है तो मुझे बरदास्त नहीं होता।”

“अरे गोली मार साली दुनिया को, फुलवा ! बड़ी आई

वह आवारा कहने वाली...”

वह मस्ती में झूमता हुआ चला गया।

किंतु दूसरे दिन जब अल सुबह वह अपनी खाद के घूर को उठा-उठाकर खेत में फेंकता हुआ दिखाई पड़ा, तो लोगों के विस्मय का ठिकाना न रहा।

“अरे, यह जयराम है !”

“हां-हां, यह जयराम ही है।” चाचा ने मुंह बिचकाकर कहा - “पागलपन और गहरा रहा है।” चाचाजी ने हाथ मटकाकर कहा - “अरे नहीं जानते, जब बैठकर हूरते - हूरते कुछ शरम आई है, तो लोगों को दिखाने के लिए काम का नाटक करने चला है दहिजरा। मैं इसकी नस-नस पहचानता हूँ। मौत भी नहीं आती अभागे को।”

उसने सुना तो तिलमिला कर रह गया। उसकी इच्छा हुई कि कुदाली-खांची फेंक-फांककर कहीं चल दे। किंतु फुलवा ने कहा है।

वह रोज-रोज चाचा-परिवार और गांव वालों की जहरीली टिप्पणियों को पीकर भी काम करता रहा। दुनिया ने उसकी कुकुही और कुदाली में अंतर नहीं समझा, तो न समझे, फुलवा के संतोष के लिए वह सब कुछ कर सकता है।

और एक दिन यह बात उजागर हो गई कि फुलवा और उसमें आसनाई चल रही है। दरअसल फुलवा के बहनोई गोकुल ने ही यह प्रचार किया था। वह खुद ही फुलवा पर लार टपका रहा था। वह उसे दूसरी बीबी बनाकर रखना चाहता था, लेकिन फुलवा ने ही दृढ़ता से कह दिया कि वह जयराम बाबू से प्रेम करती है। उन्हीं के साथ जिनगी बिताएंगी।

कौन किसी आशनाई पकड़े हुए है, सभी करते हैं मौका मिलने पर लेकिन छिपकर। लेकिन इस मुंहझोंसे को तो देखो, खुलेआम मल्लाह की लड़की से परेम। फरमा रहा है। सब लोग इसे बौड़म समझते रहे लेकिन यह तो जहरीला सांप निकला।

उसकी जाति वालों ने उसे बहुत कोसा - “अरे लम्पट, सरड़ी लेकर जोगी तो पहले ही हो गया था अब मल्लाह भी हो गया। तुझे मल्लाह की विधवा लड़की ही मिली है आशनाई

करने के लिए? तू पैदा होते ही मर क्यों नहीं गया? साला गांव की नाक कटा रहा है।”

उसका इतने दिनों का जमा हुआ क्रोध यों उमड़ आया कि गांव के बुद्धिमान लोगों को ठकमुरी मार गई। उसने बड़े दृढ़ स्वर में उत्तर दिया - “आप लोग मेरे साथ अनाप-शनाप मत बकिए। मैं गांव की नाक रखने वाले हर आदमी को जानता हूँ। फुलवा का मेरा संबंध लुके - छिपे का संबंध नहीं है, जाहिरी तौर का है। मैं उसे प्रेम करता हूँ।”

“यानी शादी करोगे मल्लाह की लड़की से!” एक व्यक्ति ने व्यंग्य कसा।

“हां-हां, चाहो तो यही कह लो।” बड़े निर्भीक शब्दों में उसने कहा।

आगे बढ़कर चाचा ने एक जोर का थप्पड़ उसके गाल पर जड़ दिया। चाचा से थप्पड़ खाना उसके लिए नई बात नहीं थी, मगर इस थप्पड़ ने उसके मन की सारी संवेदनाओं को आहत कर दिया। उसने घूमकर आंखों में आग भरकर चाचा को देखा। चाचा सहम गए। किंतु फिर अपने आहत अभिमान को सम्हालकर आगे बढ़े और चांटा मारने ही वाले थे कि जयराम ने डपटा - “खबरदार ! बांह तोड़कर रख दूंगा। अब मैं वह पत्थर नहीं हूँ, जो चुपचाप आपकी लात-गारी सहता आया है। अब मुझे भी दर्द होने लगा है। आप छिप छिपकर चमरौटी में जाना छोड़िए तब मुझे सीख दीजिएगा।”

लोग अवाक् थे। किसी ने पीछे से आवाज कसी- “हां - हां, मल्लाहिन ने जगा दिया है गबया को।” लोग हंसने लगे। किंतु उसकी आंखें वैसी ही आग सी की उगलती रहीं। चाचा ने हांपते हुए कहा - “पापी, मल्लाहिन रखने वाला विधर्मी, निकल जा मेरे घर से। अब तक इस आवारा साले का नाव जैसा पेट भरते - भरते हड्डी टूट गई। उसी का बदला चुका रहा है ! मुझे बेभिचारी कह रहा है!”

उसकी आवाज तड़पी - “मैं किसी का एहसान नहीं चाहता, चाचाजी ! बचपन से ही पीट-पीटकर आपने मुझे जड़ बना दिया। घृणा और मार के अलावा आपने इस अनाथ बालक को क्या दिया? ऐसे पापी घर में रहना नरक में रहना है। मैं इसीलिए दिन-दिन भर बाहर भागता फिरा। मुझे आपके

घर में रहने की इच्छा खुद ही नहीं है। आप मेरे आठ बीघे खेत अलग कर दीजिए, आप अपने रास्ते, मैं अपने रास्ते।”

“कैसे तेरे खेत? वे तो तेरे पेट में हैं। जा भाग जा, पापी, आज से अपनी सूरत मत दिखाना।”

“क्या कहा। मेरे खेत आपके पास नहीं ? आठ बीघे मेरे खेत क्या हो गए ?”

उसने वहां खड़े सभापति जी, नेता जी, पुरोहित जी सबसे फरियाद की किंतु सबने कहा- “भाई, यह तुम्हारे घर का मामला है, हम क्या कर सकते हैं? और तुम्हारे जैसे बेधरमी के लिए तो गांव में वैसे ही जगह नहीं होनी चाहिए।”

चाचाजी बिना कुछ बोले वहां से चले गए। चाचाजी की गुंडई के डर से, और कुछ उसके प्रति घृणा की वजह से गांव वाले भी कुछ नहीं बोले, सभी यहां-वहां सरक गए।

वह बहुत दिनों बाद जागा। सारा खेल खत्म हो गया था। चाचाजी ने पटवारी से मिल-जुलकर सारे खेत अपने नाम करा लिए थे। उसकी इच्छा हुई कि वह मुकदमा लड़े किंतु चाचा के खिलाफ गवाही कौन देगा? कोई भी तैयार नहीं हुआ। और अब तो समस्या थी रोटी की। मुकदमे के लिए पैसे कहां से आएंगे ? सोचते-सोचते वह टूट गया। संसार के प्रति एक अद्भुत तिक्तता की अनुभूति से भर गया। इन सारी तिक्तताओं के बीच शहद की बूंद-सी फुलवा।

सोचा कि फुलवा से मिल-जुलकर आगे का कार्यक्रम सोचे। उसकी इच्छा हुई कि भाग चले इस गांव से दूर। कहीं चलकर मेहनत-मजूरी करे और फुलवा के साथ आदमी की जिंदगी जिए।

लेकिन उस दिन फुलवा नहीं मिली। वह घर के एक कोने में दुबकी हुई सिसक रही थी। उसके कारण उसके बहनोई ने उसकी बहन को पीटा था। उसका बहनोई बहुत दिनों से फुलवा के गदराए यौवन पर दृष्टि धंसाए था। मगर वह उसके पंजे में कभी नहीं आई। उसने जयराम के साथ उसकी आशनाई का समाचार सुना तो एक अद्भुत प्रतिक्रिया के क्रोध से भर गया। ‘भला देखो तो हरजाई रहती है मेरे घर में, खाती है मेरा, पहनती है मेरा और आशनाई करने चली उस गवया से। आज उसने जाति में मेरी बदनामी कराई

हैं, आएँ तो उसे पीटकर रख दूंगा।’

उसकी औरत ने उसका विरोध किया -- “बड़े आए हो मारने वाले! मार ही खानी थी तो अपनी ससुराल में क्या बुरी थी? उस पर कोई अहसान नहीं करते। दिनभर हाड़ तोड़कर काम करती है तो दो रोटी खाने को देते हो। कौन होते हो उस पर हाथ उठाने वाले ?”

औरत की गरम-गरम बातें सुनकर गोकुल मल्लाह ने उसी पर सारा गुस्सा उतार दिया बोला -- “तो पोस घर में हरजाई को ! जैसी तू वैसी वह !”

फुलवा काम-धाम करके घर आई तो सारी कथा सुनी। बहन ने भी जयराम से संबंध जोड़ने के लिए भला-बुरा कहा। फुलवा बैठी रो रही थी। अतः उस दिन वह उससे नहीं मिल सका।

दूसरे दिन शाम को वनखंडी में बैठकर जयराम ने फिर कुकुही पकड़ ली। झनझनाने लगा-

फु... ल... वा... रे... ए... ए...

फुलवा कल से ही उससे मिलने के लिए तड़प रही थी। उसने विश्वास दिया है उसको। फुलवा धीरे-धीरे जाकर एक पेड़ की छांह में खड़ी हो गई। वह तल्लीन होकर कुकुही बजा रहा था।

“जय बाबू !”

“तुम आ गई फुलवा !”

फुलवा कुछ नहीं बोली, झर-झर रोती रही।

“फुलवा, रोती क्यों है, पगली ! चल इस गांव से निकल चलें, कहीं दूर, जहां कोई हम लोगों की जाति-पांति न समझे। हम लोग वहां मेहनत-मजदूरी करके खाएं और आदमी की तरह जिएं। बड़ा जालिम है यह गांव, प्यारी !”

फुलवा आंसू झरती रही, कुछ नहीं बोली।

“बोल-बोल, फुलवा ! कुछ तो बोल। मैं तो एकदम टूट गया हूँ, तू ही बस सहारा है, मेरी मौत और जिंदगी का फैंसला तेरे ही हाथ में है। तू भी चुप रहेगी तब क्या होगा !” उसकी आंखें भर आईं।

“मैं क्या बोलूँ, जयराम बाबू ! कभी-कभी सोचती हूँ कि कितनी अभागी हूँ। लोग कहते हैं कि मैंने बचपन में ही अपने मां-बाप को खा डाला, फिर अपने पति को खा डाला, फिर अब तुम्हारी जिंदगी में कूदकर तुम्हें बरवाद करने पर तुली हूँ। तुम्हारा धरम बिगाड़ा। लोग मुझे क्या कहेंगे, क्या कहेंगे? भगवान क्या सजा देगा ? किंतु क्या करूँ, बाबू ! मन ऐसा पापी है जो दुनिया में किसी के पास ठहरता ही नहीं, सभी जगह उसे पाप की तेज गंध आती है। घूम-फिरकर तुम्हारे पास ही लौट आता है।” वह सुबकने लगी।

“फुलवा, हम लोगों का अभाग्य ही हम लोगों के प्रेम का सबसे बड़ा आधार है। यह पाप-पुण्य का लटका छोड़। मैंने वेद - शास्त्र नहीं पढ़े हैं, लेकिन जिंदगी जीते-जीते इतना सीख गया हूँ कि प्रेम बिना आदमी, आदमी नहीं रह जाता। जिंदगी टूट जाती है। और वह प्रेम जो आदमी को बल दे, टूटने से उबारे, पवित्र होता है, फुलवा ! चाहे वह कहीं से मिले, बोल मेरे साथ चलेगी?”

“कहां ?”

“नरक में, स्वर्ग में आकाश में, पाताल में, कहीं भी इस गांव से दूर। अब मैं बाभन नहीं हूँ, फुलवा। सिर्फ आदमी हूँ। मजदूरी करके खाऊंगा और तुझे खिलाऊंगा। फेंक दूंगा यह कुकुही तोड़-तोड़कर। बोल चलेगी?”

“चलूंगी।”

उसने उठकर फुलवा को जकड़ने के लिए बाहें फैलाई कि पीछे से कुछ बांहों ने उन्हें पकड़कर मरोड़ दिया। वह एक आह भरकर रह गया। इसके बाद उस पर लात मुक्कों की जोर से बौछार होने लगी। उसे देखकर फुलवा एक बार जोर से चीख उठी। लेकिन एक आदमी ने लपककर उसका मुंह अपनी हथेली में जकड़ दिया। वह अफनाने लगी। उसकी हालत देखकर वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। जब वह मार खाते-खाते बेहोश हो गया, तो मारने वाले फुलवा को उठाकर और उसको छोड़कर चले गए। फुलवा को ले जाकर चुपके से एक मकान में बंद कर दिया।

मूर्च्छा टूटने पर वह सब कुछ समझ गया। उसने बुलाया - “फुलवा ! फुलवा !!” किंतु उस रात के सन्नाटे में उसकी आवाज के अतिरिक्त और कोई आवाज सुनाई नहीं

पड़ी।

सुबह वह लँगड़ाता हुआ गांव की ओर गया तो शोर था कि फुलवा भाग गई, भाग गई कहीं पास-पड़ोस के गांव के एक मल्लाह के साथ।

वह तड़पा, चीखा - “झूठ ! तुम सभी लोग झूठे हो। फुलवा नहीं भाग सकती। तुम लोगों ने उसकी हत्या कर दी है, उसे खा लिया है, उसे खोजूंगा मैं आकाश में, पाताल में...”

जब दो दिन तक फुलवा की कोई खबर नहीं मिली तो वह धीरे-धीरे गांव से बाहर हो गया। रास्ते में उसके खेत पड़े, उन्हें जी भरकर देखा; फफककर रोया, फिर आगे बढ़ गया। वनखंडी की वे जगहें रो रही थीं, जहां उसकी फुलवा से पहली और आखिरी मुलाकात हुई थी।

उसके बाद में सुना कि उसके जाने के बाद फुलवा की सागाई दूर के एक गांव के मल्लाह के साथ कर दी गई। फुलवा बहुत चीखी - चिल्लाई फिर शांत हो गई। उसका पति कलकत्ते में काम करता था। वहीं ले गया फुलवा को। पता नहीं फुलवा को क्या हो गया कि साल के भीतर ही चल बसी।

सब कुछ समाप्त हो गया, जैसे सामने से एक हरा-भरा खेत एकाएक उड़ गया हो।

उसने आंखें खोलीं। लगा वे भीग गई हैं।

वह साल भर पता नहीं कहां रहता है। जब पलाश फूलते हैं तो दिनभर के लिए उस वनखंडी में लौट आता है। कुकुही बजाता है-

फु... ल... वा... रे... ए... ए...

किंतु आज न जाने क्यों शाम हो जाने पर भी जयराम वनखंडी से नहीं उठा। उसे लगता था कि वह अपनी मातृभूमि से कटकर भटकते-भटकते थक आया है। आज उसकी जमीन उसे हजार-हजार स्वरों से अपने पास बुला रही थी। आज उसे न जाने कैसा कैसा लग रहा था - जैसे भटकती हुई यात्रा का अंत आ गया हो। उसे लगता था कि फुलवा और कहीं नहीं, यहीं कहीं समाधि में लीन है। मार डाला इन

जालिमों ने उसे यहीं पर। उसे गांव के बाहर खोजना व्यर्थ है। सोचते-सोचते रात हो आई। भूखा-प्यासा जयराम उठकर अपने बिछुड़े हुए खेत के पास टहलने लगा। ‘सहसा गांव की ओर से भयानक शोर सुनाई पड़ा। उधर का आकाश पश्चिमी संध्याकाश-सा लाल हो उठा - गांव की ओर से लाल-लाल लपटें उठने लगीं। उसे लगा जैसे सारे आकाश में दहकते हुए पलाश के फूल हों। आग लगी है, पवित्र लोगों की वस्ती में आग लगी है। उसे क्या ! एक बार इच्छा हुई कि उधर चले। नहीं, जीते जी इस वस्ती में न जाने का उसने फैसला लिया है।

ऊंची-ऊंची लपटें उठने लगीं। सारा गांव जलते हुए घर के पास खड़ा होकर हो-हल्ला कर रहा था। पछुआ के वेग के साथ लपटें पूरे गांव को निगल जाने की चुनौती दे रही थीं। सभी लोग आग बुझाने के उपक्रम में आपाधापी कर रहे थे। सहसा गृहवधू चिल्लाई- ‘हाय दैया लुट गई, मेरा बच्चा तो घर में ही रह गया। उपस्थित लोगों में एक अजीब हाहाकर मच गया। घर के लोग चीखने-चिल्लाने लगे। आग में कूदती हुई बहू को लोगों ने पकड़ लिया, मगर आग में कूदकर बच्चे को ले कौन आए ? मौत की जीभ की तरह कांपती इन लपटों को कौन पार करे? आग की लपटें बच्चे की ओर चिटचिटाती बढ़ रही थीं।

किसी ने नहीं देखा कब पेड़ की आड़ से निकलकर एक पागल आग की लपटों को चीरता अंदर घुसा और बच्चे को उसकी गुदड़ी में लपेटकर गिरती कड़ियों से बचाता आग से बाहर आ गया। मां ने झपटकर बच्चे को गोद में ले लिया, किंतु वह बुरी तरह जली अवस्था में जमीन पर गिर पड़ा। लोगों ने उसके जलते कपड़ों को तेजी से बुझाया।

लोगों ने पहचाना - यह तो जयराम था। कुछ लोग उसे घेरकर खड़े हो गए। कुछ लोग आग बुझाते रहे। काफी देर में जब आग की लपटें शांत होने लगीं, तो लोगों ने देखा कि जयराम भी सदा के लिए शांत हो गया था।

कोई चीखा नहीं, चिल्लायी नहीं, सिर्फ गांव का एक निकम्मा आदमी ही तो उठ गया था।

रामदरश मिश्र की कथा-यात्रा

डॉ० गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव

रामदरश मिश्र की कहानियों पर बात करना एक दुष्कर कार्य है क्योंकि उनका अनुभव संसार बहुत व्यापक और जटिल है। रामदरश मिश्र की कहानियों के अब तक पांच संग्रह 'खाली घर' (१९६९), 'एक वह' (१९७४) 'दिनचर्या' (१९७९) 'सर्पदंश' (१९८२), 'बसंत का एक दिन' (१९८३) प्रकाशित हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त कई और कहानियां अन्यत्र संकलनों एवं पत्रिकाओं में छप चुकी हैं। '६१ कहानियां' लगभग उनकी समग्र कहानियों का संग्रह है जिसमें उपर्युक्त संग्रहों की कहानियां हैं तो कुछ और कहानियां भी हैं। इन कहानियों का अनुभव-संसार तीस-तीस वर्षों की अवधि में फैला हुआ है। सजग लेखक हमेशा समयगत सच्चाई से जूझता है, उसे आत्मसात करता है, उसे दिशा देता है। रामदरश मिश्र की इन कहानियों को पढ़कर निष्कर्ष निकलता है कि एक सजग लेखक होने के कारण वे हमेशा समयगत सच्चाइयों से टकराते रहे हैं।

रामदरश मिश्र ने 'नयी कहानी' आन्दोलन के समय से अपनी रचना - यात्रा प्रारंभ की। यह वह समय था जब नयेपन के नाम पर हिन्दी के अधिकांश कहानीकार कुंठा, संत्रास, हताशा, सेक्स, अजनबी जैसे आयातित अनुभवों के सहारे अपनी रचनाओं का ताना-बाना बुनने में अपनी रचनाशीलता का अपव्यय कर रहे थे। ग्रामबोध की कहानियों को सीमित अनुभवों की कहानियां कहकर खारिज कर दिया था और "नगर-बोध वाली भिक्षान्तजीवी कहानियां चर्चित होने लगी" थीं। अतः 'नयी कहानी' आन्दोलन की अधिकांश कहानियां जीवन से कटी हुई कहानियां थीं।

रामदरश मिश्र ने अपने को 'नयी कहानी' आन्दोलन से अलग रखा। जहां 'नयी कहानी' आन्दोलन के झंडाबरदारों ने आयातित अनुभवों को आधार बनाकर कहानियां लिखीं, वहां रामदरश मिश्र ने जीवन से जुड़ी कहानियां लिखीं। उनका प्रथम कहानी संग्रह 'खाली घर', १९६९ में प्रकाशित हुआ जिसकी अधिकांश कहानियां 'खण्डहर की आवाज', 'मां, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो', 'खाली घर', 'एक और यात्रा', 'मंगल यात्रा', 'एक औरत एक जिन्दगी' मूलतः ग्राम जीवन की कहानियां थीं जिनमें आज़ादी के बाद सत्ता की गलत नीतियों के फलस्वरूप तिरस्कृत ग्राम जीवन के टूटन, क्षोभ, आक्रोश का प्रामाणिक कथा प्रतिबिम्ब है। इन कहानियों में उन्हें ग्राम-बोध के कथाकारों -- रेणु, नागार्जुन, शिवप्रसाद सिंह, भैरवप्रसाद गुप्त, मार्कण्डेय, केशवप्रसाद मिश्र, अमरकान्त, शेखर जोशी, शैलेश मटियानी, विवेकीराय, शानी, रांगेय राघव, हिमांशु जोशी आदि कथाकारों की पंक्ति में प्रतिष्ठित कर दिया।

मूलतः रामदरश मिश्र ग्राम-संवेदना के रचनाकार हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं- कविता, कहानी, उपन्यास में उस गाँव की मिट्टी की आदिम गंध है जो भारतीय जनजीवन की आधारशिला है। उन्होंने स्वयं इसका उल्लेख किया है कि "भारतीय जीवन की सही और गहरी पहचान गांव के सन्दर्भ में ही हो सकती है।" परन्तु उन्होंने ग्राम-बोध को गांव तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि इसका विस्तार नगरों तक किया। आज़ादी के बाद गांव टूटने लगे, आर्थिक तंगी के कारण गांव के लोग नौकरी की तलाश में नगरों में बसने लगे। लेकिन नगरों में

बस जाने के बाद भी गांवों से जुड़ने की ललक उनमें शेष है। परन्तु अपनी आर्थिक विवशताओं के कारण नगरों में बसे ये ग्रामीण, गांव से जुड़ भी नहीं पाते। फलस्वरूप एक निरन्तर द्वन्द्व में जीते रहते हैं। रामदरश मिश्र की ग्राम - जीवन की कहानियों के पात्र इसी द्वन्द्व के शिकार हैं जिसे हम 'खाली घर' संग्रह की कहानियों पात्रों- 'चिड़ियों के बीच' के देव, तथा 'मां, सन्नटा और बजता हुआ रेडियो', 'खंडहर की आवाज' और 'खाली घर' के कथानायकों में देख सकते हैं। उनके बाद के संग्रहों में भी हम ऐसे पात्र पाते हैं जो नगरों में बसे ग्रामीणों के तनावपूर्ण द्वन्द्व को जीते हैं जैसे 'पराया शहर' का पंकज और 'दूरियां' का शरद। ये कहानियां गांव और नगर के संदर्भों से जुड़े चरित्रों के द्वन्द्व को बड़ी बेबाकी से चित्रित करने में अपनी विशिष्ट पहचान बनाती हैं। यह स्वातंत्र्योत्तर भारत की वास्तविकता है कि गांवों के लोग शहरों में बस जाने के कारण शहर में बसते जा रहे हैं। यह एक वास्तविकता है कि गांव से कटने के दर्द से पीड़ित भी हैं। परन्तु उनका यह दर्द रोमानी नहीं है। यह दर्द अपनी गतिशील जीवनधारा के मूल स्रोत से कटने का दर्द है जो एक कटु वास्तविकता है और जिसे रामदरश मिश्र जैसे ग्राम-संवेदना के धनी रचनाकार ही सशक्त अभिव्यक्ति दे सकते थे।

निम्न मध्यवर्गीय जीवन में व्याप्त रूढ़ियों, विसंगतियों एवं आर्थिक संकट से उत्पन्न विवशताओं, पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों में आये तनावों और स्वार्थपरता को रामदरश जी ने अपनी कहानियों में प्रतिबिम्बित किया है। देश की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने जो संकट उत्पन्न किया है, उसका जबरदस्त प्रभाव निम्न-मध्यवर्गीय जीवन पर पड़ा है। इस वर्ष की ट्रैजिडी यह है कि एक ओर उच्च वर्ग की नकल में वह निम्न वर्ग से कटता जा रहा है तो दूसरी ओर रूढ़ियों, विसंगतियों और आर्थिक दबाव से वह खोखला और जर्जर होता जा रहा है। 'मुक्ति' पूंजीवादी मानसिकता से ग्रस्त एक ऐसे निम्न मध्यवर्गीय परिवार की कहानी है जो महान बनाने की ज़रूरत को रोटी और कपड़े से भी अधिक महत्त्व देता है क्योंकि मकान सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक बनता जा रहा है। इसी मकान के बनवाने के

लिए पटेल की लड़कियां अपने को गलाती जा रही हैं, उनकी शादियां नहीं होती। यह सब इसलिए की आदमी को मकान ज़रूर चाहिए चाहे वह रहे या न रहे। यह निम्न मध्य वर्ग सामाजिक रूढ़ियों से इतना ग्रस्त है कि वह अपना स्वतंत्र निर्णय नहीं ले पाता। 'निर्णयों के बीच निर्णय' का ज्ञान अपना निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र नहीं है। उसके विभाग में जहां वह काम करता है, उसके जूनियर को विभागीय पत्रिका का संपादक बनाकर उसपर थोप दिया जाता है। यही नहीं बल्कि एक लंगड़ी और बदसूरत लड़की को बीवी के रूप में उस पर मढ़ दिया जाता है और इन थोपे हुए निर्णयों को ढोने के लिए वह अभिशप्त है। फलतः आजीवन एक द्वन्द्व में फंसा वह छटपटाता रहता है। यहां तक कि वह अंत में विक्षिप्तावस्था में पहुंच जाता है। ज्ञान का यह चरित्र एक तरह से 'एक और यात्रा' के दिनेश का एक्सटेन्शन है। लेकिन दिनेश का चरित्र उतना प्रभावित नहीं करता जितना ज्ञान का, क्योंकि 'एक और यात्रा' के दिनेश की विक्षिप्तावस्था को सामाजिक सन्दर्भों से जोड़ने में लेखक असफल रहा है। परन्तु यह कमज़ोरी 'निर्णयों के बीच निर्णय' में नहीं है क्योंकि लेखक ने बड़ी पैनी दृष्टि से ज्ञान की विक्षिप्तावस्था की ज़िम्मेदार रूढ़ियों को निर्ममता से एक्सपोज किया है। ठीक यही बात 'अतीत का विष' के बारे में भी कही जा सकती है। सुषमा के मानसिक संतुलन के जिम्मेदार रूढ़ियां हैं जिसके कारण एक वेश्या, वेश्या बनी रहने के लिए अभिशप्त है। 'बेला मर गयी' की बेला और 'आखिरी चिड़िया' की प्रभा भी इन्हीं निम्नवर्गीय रूढ़ियों एवं विकृतियों की शिकार होती हैं। देश में कान्चेन्टी शिक्षा के प्रति तेज़ी से पनप रही निम्नमध्य वर्गीय रुझान एक पूंजीवादी मानसिकता है। वास्तव में यह एक आत्मघाती प्रवृत्ति है जिसके फलस्वरूप यह वर्ग मुख्य जीवनधारा से इतना कट जाता है कि अन्त में वह समाज में मिसफिट हो जाता है। 'मिसफिट' कहानी में इसी समस्या को लेखक ने बड़े ही प्रभावी ढंग से उठाया है जिसका पात्र अमित कान्चेन्टी शिक्षा के कारण समाज में मिसफिट होने लगता है।

दिन प्रतिदिन गहराते आर्थिक संकट ने शहरों और

गांवों में रहने वाले निम्न मध्यवर्गीय जीवन को अत्यधिक तोड़ा है। उनकी विवशताएं बढ़ी हैं। सम्बन्धों में तनाव और स्वार्थपरता आई है। आर्थिक तंगी से उपजी इन निम्नमध्यवर्गीय मजबूरियों को आधार बनाकर रामदरश जी ने कई कहानियां लिखी हैं जिनमें प्रमुख हैं 'एक रात', 'गीतू', 'आरम्भ' और 'प्रतीक्षा'। 'एक रात' कहानी में आर्थिक तंगी से ग्रस्त निम्नमध्यवर्गीय परिवार के यहां किसी मेहमान का आना ऐसा लगता है जैसे कोई महाजन अपने दिये हुए कर्ज का हिसाब माँगने आ रहा है। 'गीतू' में भी गीतू का परिवार अर्थाभाव के कारण जर्जर और भुतहे मकान में रहने के लिए विवश है। इसी आर्थिक तंगी के कारण 'आरम्भ' का नायक दूध की बोतल के लिए रात भर जागता है। निम्न मध्यवर्गीय जीवन में ग़रीबी एक अभिशाप है। 'प्रतीक्षा' में आशा के परिवार वाले अर्थाभाव के कारण उसकी शादी नहीं कर पा रहे हैं। आर्थिक तंगी से निम्न-मध्यवर्गीय संबंधों में स्वार्थपरता और दूरियाँ भी आयी हैं। 'दूरियाँ' कहानी में लेखक ने इस बात पर बल दिया है कि आर्थिक तंगी आदमी और आदमी के बीच दूरियाँ पैदा कर देती हैं। यह आर्थिक तंगी है जो 'संबंध' के विधुर को अपने संबंधों को भुनाने के लिए विवश करती है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि निम्न मध्यवर्ग के सारे संबंध अर्थ पर टिक गये हैं। 'घर लौटने के बाद' के दीनू भाई रिटायर्ड होने के बाद अपने ही घर में पराये हो गये हैं। जिन लोगों के लिए उन्होंने जीवन भर कड़ी मेहनत की, रिटायर्ड होने के बाद उन्हीं लोगों के बीच उन्हें एक गलाजत की ज़िन्दगी जीनी पड़ती है। थके-हारे दीनू भाई को रिटायर्ड होने के बाद परिवार के बीच विश्राम चाहिए। लेकिन घर का कोई भी व्यक्ति जैसे उन्हें पहचानता ही नहीं। आर्थिक स्थिति की चरम सीमा में पहुंचकर निम्न मध्यवर्ग में कभी-कभी विरोध का भी स्वर उठाने लगा है। 'मुक्ति' कहानी में चन्दा का घर से भाग जाना पूंजीवादी मानसिकता के प्रति विरोध का स्वर मुखरित करता है। लेकिन निम्न मध्यवर्गीय जीवन की इन कहानियों में रामदरश जी ने उनकी रूढ़ियों विकृतियों और आर्थिक तंगी से उपजी उनकी विवशताओं, सम्बन्धों में तनाव और स्वार्थपरता को कहीं भी ग्लोरिफाई नहीं किया गया है। इस अर्थ में

अमरकान्त और उनमें काफी समानता है। किन्तु इन दोनों के निम्न मध्यवर्गीय पात्रों में एक असमानता भी है। अमरकान्त ने निम्न मध्यवर्गीय जीवन की विडम्बनाओं को अधिक तीव्रता से व्यंजित किया है, वहीं रामदरश जी ने निम्न मध्यवर्गीय जीवन की विवशताओं को अधिक गहराई से अभिव्यक्त किया है।

सातवें दशक में पाश्चात्य अस्तित्ववादी दर्शन हमारे कथा साहित्य पर छाया हुआ था जिसके माध्यम से कथाकारों ने निम्न मध्यवर्गीय जीवन के नग्न यथार्थ से साक्षात्कार करने की चेष्टा की। निश्चय ही हमारे सामाजिक जीवन में भी अस्तित्व-बोध की स्थितियाँ हैं। परन्तु हमारा अस्तित्व-बोध हमारे आर्थिक अभावों से जुड़ा है जबकि पाश्चात्य अस्तित्व-बोध यूरोपीय समाज की समृद्धि और प्रचुरता की उपज है। इस मूलभूत अन्तर को भीष्म साहनी, अमरकान्त, शैलेश मटियानी और रामदरश मिश्र जैसे कुछ समर्थ रचनाकारों को छोड़कर अधिकांश लेखक नहीं समझ पाये जिससे उनकी रचनाएं जमीन से कटी हुई लगें। असल में "लेखक अस्तित्ववादी दर्शन और विचारों से आवश्यकता से अधिक प्रभावित होने के कारण विराट विश्व में अपने को अकेला पाकर अपने को समस्त मानने लगा है और अपने संत्रास की प्रेषणीयता को ही अपनी रचना का प्रमुख उद्देश्य बताता है।"³ अतः कहना होगा कि अस्तित्ववादी दर्शन से 'आवश्यकता से अधिक प्रभावित होने कारण' ही इन कहानीकारों की कहानियाँ फेक लगने लगीं। परन्तु रामदरश मिश्र ने अस्तित्ववाद को ज़मीन से जोड़कर उसे एक सार्थक अभिव्यक्ति दी। उनकी कहानी 'चिट्टियों के बीच' का नायक डॉ० देव अपनी निजी और गांव की परेशानियों का द्वंद्व लेकर तड़पता है। शहर में रहते हुए उस पर अपने अभावग्रस्त पारिवारिक जीवन का दबाव है जो दूसरी तरफ उस पर गाँव में रह रहे उसके आत्मीय जनों की अभावजनित परिस्थितियों का दबाव है। आर्थिक तंगी से उपजी निम्न मध्यवर्गीय विवशता तनाव और द्वन्द्व के इस अस्तित्व बोध को रामदरश जी ने डॉ० देव के माध्यम से बड़े ही सशक्त ढंग से उभारा है। 'पराया शहर' का पंकज भी इसी तनाव और द्वन्द्व का

शिकार है। अतः यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि रामदरश जी का अस्तित्वबोध हमारी सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों से जुड़ा हुआ है। इसे हम उन्हीं की एक अन्य कहानी 'मां सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो' में भी देख सकते हैं जिसमें कथानायक की प्रथम पंक्तियां दृष्टव्य हैं 'गांव से कल लौटा हूं मां का क्रियाकर्म करके। एक अजब सन्नाटा मन में अंटा पड़ा है। नदी के कटे हुए तट, खेतों में खुली हुई दरारें, उजड़े हुए सिवान.... ठूठ होते हुए पेड़,चारों ओर घूमती मृत्युगंध" फिर कथानायक को अपनी मां की याद सताने लगती है की अंतिम साँस तक उसे देखने के लिए तरसती रही "मेरे भीतर एक हूल सी मारने लगी। मां की तरह निरीह आँखें मुझमें भर आईं। मैं भीतर ही भीतर गलने लगा। मेरे रक्त में बचपन से लेकर अब तक का समय बहने लगा- हर पल में, हर मोड़ पर, हर व्यथा में मां, हर संघर्ष में मां। जब से शहर में रहने लगा था मां अकेली छूट गयी पिता जी के साथ। मैं एकलौती संतान परिवार के साथ शहर में।" सातवें दशक के उत्तरार्ध में पूर्वी उत्तर प्रदेश में पड़े भयंकर अकाल के संदर्भ में लिखी इस कहानी का नायक अपनी व्यक्तिगत पीड़ा को अन्त में सामाजिक पीड़ा में आत्मसात कर लेता है। "गांव की बहुत सी औरतें बीमार हैं, हर औरत मां हैं, मुझे हर औरत की तड़प में मां की तड़प दिखाई दी। ...अभावों से घिरा स्तब्ध वायुमंडल, इसमें भटकती मृत्यु की गंध और घर में दम तोड़ती एक मांमां मैंने तुम्हें देख लिया।" कहने का तात्पर्य यह है कि रामदरश जी का अस्तित्व-बोध हमारी अपनी आर्थिक सामाजिक परिस्थितियों की उपज होने के कारण एक स्वस्थ और सहज मानवीय प्रवृत्ति के रूप में उभर कर सामने आई है। इसीलिए ये कहानियां हमें अधिक प्रभावित करती हैं।

अतः रचनाकार का यह दायित्व होता है कि समय की वास्तविकता को आत्मसात करे और उसे एक सर्जनात्मक अभिव्यक्ति दे। तभी उसकी रचना महत्वपूर्ण और जीवन्त हो सकेगी क्योंकि रचना जब अपने समय से संगति खो देती है तो वह महत्वहीन, तापहीन और अप्रभावी हो जाती है। यह प्रसन्नता की बात है कि इस वास्तविकता को

अपनी रचनाओं में प्रतिबिम्बित कर समकालीन रचनाकारों ने अपनी पक्षधरता को स्पष्ट किया। मारकण्डेय, अमरकान्त, भीष्म साहनी, शैलेश मटियानी, शेखर जोशी, इसराइल, शानी, हिमांशु जोशी जैसे समर्थ लेखक सामने आये जिन्होंने निम्न वर्गीय विवशता, असहायता, अभाव-ग्रस्तता को अपनी कहानियों में चित्रित किया। रामदरश जी की पक्षधरता की चेतना 'खाली घर' के बाद के कहानी संग्रहों में विकसित होते दिखाई पड़ती है। निम्न वर्ग की असहायता, विवशता और असुरक्षित ज़िन्दगी को उन्होंने करीब से देखा है और उसे गहराई से अपनी कहानियों में उतारा है। इसे हम उनकी 'ज़मीन', 'दिनचर्या', 'मुर्दा मैदान', 'कर्ज', 'ऊँची इमारत', 'सर्पदंश', 'टूटे हुए रास्ते' और 'सवाल के सामने' जैसी कहानियों में देख सकते हैं। 'जमीन' के जोखू हरिजन को सामंती व्यवस्था की मानक शक्तियों ने इतना निकम्मा और कुंद बना दिया है कि वह अपनी गरीबी के खिलाफ आवाज़ भी नहीं उठा सकता। वह सामंती शोषण से इतना पस्त हो चुका है कि जब उसके बेटे मोहन में मंत्रियों के कोरे वायदों और झूठे नारों के खिलाफ़ चेतना जगती है तो उसके बपई जोखू उसकी इस चेतना को दबा देना चाहते हैं। घोर आर्थिक तंगी का शिकार यह निम्न वर्ग एक विवश जीवन जीने के लिए अभिशप्त हैं। 'दिनचर्या' का कतवारू अपनी रोटी के लिए लारी में बैल की तरह जुतने के लिए विवश है। 'मुर्दा मैदान' के भोला और हट्टी पढ़ाई-लिखाई छोड़कर गंदे मैदान के कूड़े में लोहा-प्लास्टिक बीनने के लिए मजबूर हैं। 'कर्ज' के भीखू को ठाकुर धर्मचन्द का कर्ज उतारने के लिए हर महीना अपना खून बेचना पड़ता है, 'ऊँची इमारत' के मधुबन को मजूरी करनी पड़ती है, 'सर्पदंश' के गोकुल हरिजन को प्रधान की अमानवीय हरकत का शिकार होना पड़ता है। 'टूटे हुए रास्ते' का राम जी नौकरी पाने की लालच में रुपये ऐंठने वाले गिरोह का शिकार होता है। हमारे समाज का यह शापग्रस्त दलित वर्ग एक घोर असुरक्षा की ज़िन्दगी जी रहा है। नेता, मंत्री, वकील, थानेदार जैसे सुरक्षा के ठेकेदार भी उन्हें कोई सुरक्षा नहीं दे सकते। 'सवाल के सामने' की गरीब औरतों को कहीं कोई सुरक्षा नहीं मिलती जिससे विवश होकर अपने पति के हत्यारों

की शर्त स्वीकार कर लेती है ताकि वह अपने बच्चे की जान की रक्षा कर सके। आज भी हरिजनों पर आये दिन अत्याचार किये जा रहे हैं, उनके घर जलाये जा रहे हैं, उनके साथ पाशविक व्यवहार किया जाता है, उनकी औरतों-बहू-बेटियों के साथ सामूहिक बलात्कार किया जाता है। फिर भी उन्हें कहीं भी सुरक्षा नहीं मिल पा रही है। कहना न होगा कि दलित-पीड़ित वर्ग की असुरक्षा का सवाल हमारी समूची व्यवस्था की निरर्थकता को एक्सपोज करता है। यह सवाल जिसे रामदरश जी ने बड़े ही प्रभावशाली ढंग से उठाया है, आज भी उतना ही ज्वलंत है।

अतः पूंजीवादी - सामंती गठजोड़ के शोषण ने आम जनता को बेबसी, सामाजिक असुरक्षा और भयंकर आर्थिक संकट की अंधेरी गलियों में भटकने के लिए मजबूर कर दिया है। 'समाजवाद', 'गरीबी हटाओ' के नारे खोखले और निरर्थक प्रमाणित हुए। इसीलिए 'समाजवाद', और 'गरीबी हटाओ' जैसे खोखले नारों के प्रति आम रचनाकार रामदरश मिश्र जनता का मोहभंग भी हुआ है। आम जनता के इस मोहभंग को रामदरश जी ने अपनी कहानियों में प्रतिबिम्बित किया है। ताऊ (एक वह) समाज के खोखलेपन को समझने लगा है। वह समझने लगा है कि समाजवाद गरीबों की गरीबी मिटाने के लिए नहीं है बल्कि नेताओं, सेठों, अफसरों की तिजोरियाँ भरने के लिए है। गांव के सारे हरिजन बालकों में मोहन (जमीन) बहुत अच्छा है- नेक, ईमानदार और पढ़ने में होशियार। लेकिन वह हरिजन है इसलिए नरकीय जीवन जीने के लिए विवश है। जोतने बोलने के लिए उसके पास खेत भी नहीं है। मोहन का बपई जोखू भी मोहन को बताता है कि जब वह सुराजी था, वह झंडे लेकर गांव-गांव घूमा करता था और ये जो मंत्री जी उसके गांव आये हैं उन्हीं के साथ उसने जेल काटी है। परन्तु वे मंत्री बन गए और उसकी स्थिति बदतर होती जा रही है। खदर जो कभी आम आदमी की ईमानदारी और राष्ट्रभक्ति का प्रतीक था अब भ्रष्ट नेताओं का कवच बनता जा रहा है। मास्टर चन्द्रभान पांडे (सड़क) की खदर पर आस्था बनी रहती है। रिटायर होने के बाद अपनी आर्थिक तंगी के कारण वे

सड़क के किनारे एक चाय की दुकान खोल लेते हैं। वहीं जंगबहादुर यादव चाय पीने आता है जो अपने विद्यार्थी जीवन में उनके क्लास का सबसे बोदा लड़का था। एक बार तो उसने गांधी जी की तसवीर पर पेशाब कर दिया था। वही जंगबहादुर यादव अब एम.एल.ए. हो गया है। जंगबहादुर उनकी दुकान पर एक कप चाय के लिए पांच रुपये उन पर फेंककर उनका अपमान करता है। फिर खदर के प्रति उनका मोहभंग होता है। अपने परिवार की फटेहाली देखकर पांडे जी को चोट सी लगती है कि घर के बच्चे नंगे रहते हैं और वह इतनी मंहगी खादी पहनता है। वह सोचते हैं कि 'उसे क्यों नहीं मालूम हुआ कि खादी - खादी में भेद होता है। एक खादी उसकी है, एक यादव जी की। यादव ही खादी पहनने का हकदार है क्योंकि उसके शरीर पर खादी का विकास हुआ है और वह? वह नहीं, उसके शरीर पर तो खादी फटती ही गयी। और अंत में वह खदर की धोती उतारकर मिल की बनी धोती पहन लेता है। निःसंदेह रामदरश जी की कहानी 'सड़क' अमरकान्त की कहानी 'डिप्टी कलक्टरी' की तरह आज्ञादी के बाद आदर्श और आशाओं के मोहभंग की सही तसवीर पेश करती है।

रचनाकार का राजनीति की ओर उन्मुख होना स्वाभाविक है क्योंकि यह हमारे जीवन की सच्चाई बन गई है। वास्तव में राजनीति हमारे संपूर्ण जीवन पर हावी है। रामदरश जी की कहानियों में भी यह राजनीतिक चेतना विकसित होती दिखलाई पड़ती है। जिन कहानियों में उन्होंने राजनीतिक भ्रष्टाचार को बेनकाब किया है उनमें प्रमुख हैं 'खण्डहर की आवाज़', 'एक इंटरव्यू उर्फ कहानी तीन शुतुरमुर्गों की', 'कहां जाओगे' और 'गपशप'। 'खण्डहर की आवाज़' दलबदल की अवसरवादी राजनीति को एक्सपोज करती है, 'एक इंटरव्यू उर्फ कहानी तीन शुतुरमुर्गों की' में आज की गंदी चुनावी राजनीति पर व्यंग्य किया गया है, 'कहां जाओगे' में राजनेताओं की धोखाधड़ी को एक्सपोज किया गया है और 'गपशप' में आज की राजनीतिक दुरवस्था पर व्यंग्य किया गया है।

लेकिन इस पूंजीवादी - सामंती व्यवस्था में निरन्तर

शोषित होते रहने के बावजूद आदमी ने टूटना नहीं सीखा। भवानी (एक औरत एक जिन्दगी) ऐसी ही एक औरत है। अपने पति की मृत्यु के बाद विषम परिस्थितियों में पड़कर भी भवानी टूटती नहीं है बल्कि उनसे संघर्ष करती है क्योंकि वह जानती है कि दुखी वह नहीं है बल्कि दुखी वे लोग हैं जो खूब खा-पीकर दूसरों का हड़प कर मुंह लटकाये रहते हैं। भवानी की यह वर्ग - चेतना आरोपित नहीं है बल्कि उसके जीवन की परिस्थितियों के बीच से उपजी है। इसीलिए जब धनपतिया अपने हलवाहों को भवानी के खलिहान से आधा डांठ उठा लेने के लिए ललकारता है तो भवानी हाथ में गंडासा लिये तन जाती है : “जिस किसी ने डांठ पर हाथ लगाया उसे बता दूंगी। यह डांठ हमारे खून-पसीने से सींचा है।” भवानी की यह संघर्ष - चेतना बड़े ही स्वाभाविक ढंग से विकसित होती है। शोषित - पीड़ित लोग अभिशप्त रहने के बावजूद संघर्ष करने की हिम्मत रखते हैं। महेश (पशुओं के बीच) अपने शत्रुओं के खिलाफ लड़ने का संकल्प लेता है क्योंकि वह इन पशुओं के बीच अब और नहीं रह सकता। प्रभा (आखिरी चिट्ठी) में भी संघर्ष-चेतना है। इसीलिए एक घुटन भरी जिन्दगी जीने के बावजूद वह निराश नहीं है क्योंकि उसका विश्वास है कि उसकी बेटी “एक विद्रोह की कविता है उसके प्यार और आग-भरे हृदय से फूटी हुई एक मूर्त कविता। वह घूरे पर नहीं फेंकी जा सकती। वह अवरोध पाकर और और उठेगी, वह अपनी ही लपटों की झालर में अपनी रक्षा करेगी।” वास्तव में भवानी, महेश और प्रभा की यह संघर्ष-चेतना इस जुझारू तेवर का प्रतिनिधित्व करती है जो सातवें दशक के उत्तरार्ध में हमारे देश की विकट सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियों में प्रकट होने लगा था और जिसकी अभिव्यक्ति मार्कण्डेय, इसराइल, विजेन्द्र, अनिल, विजयकांत जैसे रचनाकारों की कहानियों में होने लगी थीं। परन्तु अपनी इन उपर्युक्त कहानियों में संघर्षशील चेतना का वर्गीय चरित्र रामदरश जी को संभवतः स्पष्ट नहीं था। यही वजह है कि भवानी, महेश और प्रभा की संघर्षशील चेतना व्यक्तिकेन्द्रित है। लेकिन उनकी बाद की कहानियों- ‘मुर्दा मैदान’, ‘सर्पदंश’ और ‘इज्जत’ में संघर्षशील चेतना वर्गीय चरित्र विकसित होता दिखलाई

पड़ता है। रामदरश जी यह समझने लगे हैं कि निम्न मध्यवर्ग से संघर्षशील चेतना की आशा रखना व्यर्थ है क्योंकि वह अत्यधिक कुठित और बुझा हुआ है। वे यह भी समझने लगे हैं कि निम्न वर्ग में ही अपने वर्ग - शत्रुओं के खिलाफ उठ खड़ा होने की आब है बशर्ते वह संगठित होकर लड़े। अतः “यह आकस्मिक नहीं कि एकजुट और संगठित होने और संघर्ष की बात उस तबके से उठ रही है जो सर्वाधिक सताया हुआ है।”^४ ‘मुर्दा मैदान’ में इसी वर्ग-चेतना की ओर संकेत मिलता है। इस कहानी का एक पात्र है मलखा जो निम्नवर्ग की संगठित शक्ति को समझता है। वह लोगों को ललकारता है “तुम सभी डरपोक हो और एक दूसरे से कटे हुए हो। इसलिए तो यह हरामजादी पुलिस जो चाहे सो कर लेती है। बाप से बेटी को छीनकर बाप को मारती है। पैसे वाले गुंडों की गुंडई की सज़ा लोगों को देती है और हम अलग-अलग चुपचाप सह लेते हैं। संगठन करके तो देखो कैसी आग फूटती है तुम लोगों के भीतर से। वह आग पुलिस नहीं पुलिस के बाप को भी न झुलस कर रख दे तो मेरा नाम मलखा नहीं।” संगठित लड़ाई की यह चेतना ‘सर्पदंश’ कहानी में और भी प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त हुई है। हरिजन टोली के गोकुल का लड़का अपने बाप की मौत के जिम्मेदार सामंती ताकतों से बदला लेने के लिए अकेले नहीं बल्कि संगठित होकर लड़ने का संकल्प करता है। अपने बाप की लाश को छोड़कर गोकुल का लड़का उठ पड़ता है और भागने लगता है : “वह दूसरे गांव की ओर भागा जा रहा था अपने जाति-भाइयों को सूचना देने। उसे याद है उस दिन उस गांव का हरिजन नेता आया था और उसके बपई से कह रहा था कि जीने के लिए हमें एक होकर सांपों से लड़ाई करनी होगी।” अपने तेवर में यह कहानी प्रेमचन्द की कहानी ‘सद्गति’ की याद दिलाती है। लेकिन एक मूलभूत अन्तर भी है इन दोनों कहानियों में। ‘सद्गति’ में हरिजनों के संगठित विरोध का स्वर उभरता है और ‘सर्पदंश’ में हरिजनों में एकजुट होकर संघर्ष करने की चेतना का स्वर उभरता है। रामदरश जी की एक अन्य कहानी ‘इज्जत’ में भी उनकी वर्ग - चेतना की दृष्टि स्पष्ट है। जनसंघर्षों से जुड़ने की प्रतिबद्धता रामदरश जी की रचना - प्रक्रिया की

विकास-यात्रा के एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव रेखांकित करती है। सामाजिक परिवर्तन के लिये प्रतिबद्ध रचनाकार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह पूंजीवादी - सामन्ती शोषण के खिलाफ उठती संघर्षशील जनचेतना को आत्मसात कर उसे सृजनात्मक अभिव्यक्ति दे। यह हर्ष का विषय है कि इधर कहानीकार सामने आये हैं जिन्होंने अपनी कहानियों में संघर्षशील जनचेतना को सशक्त अभिव्यक्ति दी है जिससे यथार्थ का एक नया आयाम उद्घाटित हुआ है।

‘खाली घर’ कहानी संग्रह की समीक्षा करते हुए डॉ० नित्यानन्द तिवारी ने लिखा है कि “रामदरश जी की कहानियों में अभिशप्त चरित्रों की वेदना का उभरना एक विशेष प्रवृत्ति को लक्षित करता है। किसी भी कारण जो शारीरिक दृष्टि से अक्षम और अपंग है अथवा भावात्मक दृष्टि से कहीं गहरा सदमा पहुंचा है उनकी पीड़ा की सघन अभिव्यक्ति हुई है।”⁶ डॉ० तिवारी के इस अभिमत से मेरी सहमति है। रामदरश जी में एक गहरी मानवीय संवेदना है। यही वजह है कि अभिशप्त चरित्रों की मार्मिक अभिव्यक्ति वे कर सकते हैं चाहे वह सीमा (सीमा) जैसी अपंग लड़की की पीड़ा हो, या चार वर्षीय विनोद (खाली घर) की मर्मन्तक व्यथा हो जिसकी मां उससे हमेशा के लिए छिन ली गयी है अतः पोलियो का रोगी मुन्ना (माँ : एक बिखरा हुआ दिन) की व्यथा हो। लेकिन रामदरश जी को एक अभिशप्त नारी की मार्मिक अभिव्यक्ति में विशेष सफलता मिली है। इसे हम भवानी (एक औरत एक जिन्दगी), सुषमा (अतीत का विष), प्रभा (आखिरी चिट्ठी), सोहागी भऊजी (एक अधूरी कहानी) और जगरानी फुआ (अकेला मकान) जैसे नारी पात्रों में देख सकते हैं। इन कहानियों में एक खास बात और देखने को मिलती है। रामदरश जी इन अभिशप्त नारी चरित्रों के प्रति सिर्फ हमारी सहानुभूति को ही नहीं जगाते, वरन् बड़ी बारीकी से वे पतनशील सामंती संस्कृति को एक्सपोज़ करते हैं। सुषमा (अतीत का विष) के नाटकीय जीवन के पीछे स्थिति रूढ़िग्रस्त सांगती समाज की संस्कृति को बेनकाब किया गया है जिसमें एक वेश्या आजीवन वेश्या बने रहने के लिए अभिशप्त है और जो सुषमा के मानसिक असंतुलन की जिम्मेदार है। ‘एक अधूरी कहानी’

भी विकृतियों से ग्रस्त उस पुरुष - सत्ता - प्रधान सामंती संस्कृति को एक्सपोज़ करती है जिसके सारे वेद-शास्त्र, कायदे-कानून, थाना- कचहरी, नारी के भोग-धर्म के खिलाफ उंगली उठाने के लिए हैं, परन्तु उनके शरीर-धर्म को कोई लांछित नहीं करता। मर्द चाहे जो भी करता रहे लेकिन वह हमेशा गंगाजल की तरह पवित्र रहता है। लेकिन सोहागी भऊजी जैसी औरत यदि औरत की भूख से परेशान होकर कुछ कर गुजरती है तब लोग उसे बदनाम करते हैं, उसे छिनाल और वेश्या कहते हैं और एक बार जो औरत बदनाम हुई तो जीवन भर उबर नहीं पाती। जगरानी फुआ (अकेला मकान) की यातना के माध्यम से लेखक ने विकृतियों से ग्रस्त उस सामंती संस्कृति को बेनकाब किया है जो औरत के बांझपन को औरत के लिए अभिशाप समझती है। निःसंतान होने का सारा दोष औरत के मथे मढ़ दिया जाता है। पुरुष को इसके लिए दोषी नहीं ठहराता। जगरानी फुआ की यातना का कारण उसका बांझपन है। उसका पति संतान के लिये दूसरी शादी कर लेता है और जगरानी को अपनी हाल पर बेसहारा छोड़ देता है। अतः स्पष्ट है कि इन अभिशप्त नारी - चरित्रों के माध्यम से लेखक का मूल उद्देश्य उस पतनशील सामंती संस्कृति को एक्सपोज़ करना है जिसमें आम आदमी एक नाटकीय जीवन जीने के लिए मजबूर है। जन संघर्षों को तेज करने के लिए यह जरूरी है कि पतनशील सामंती संस्कृति को बेनकाब किया जाय। यह लेखकीय उत्तरदायित्व रामदरश जी ने बखूबी निभाया है।

रामदरश जी की कहानियों से गुज़रना एक अनुभव-संसार से गुज़रना है। उनकी कहानियों में एक चिर परिचित, जाना-बूझा संसार देखने को मिलता है। जीवन का यथार्थ एक संश्लिष्ट अनुभव है जिसे एक समर्थ लेखक उसके पूरे अन्तर्विरोधों के साथ प्रस्तुत करता है। तभी उसकी रचना हमारी चेतना को झकझोरने में सफल होती है। लेकिन यह तभी सम्भव है जब लेखक का अनुभव प्रामाणिक हो यानी यथार्थ जीवन से जुड़ा हो। अमृतराय जी ने भी इस बात पर बल दिया है कि “आधुनिक हो या पुराना, सच्चा लेखक वही है जिसमें लेखक देखे हुए, अपने भोगे हुए को

अपने कालात्मक सामर्थ्य-भर-अधिक से अधिक पूर्णता के साथ चित्रित करता है।⁶ लेकिन कृति में जिस प्रामाणिकता-बोध की मांग की जाती है “वह एक लम्बी साधना का प्रतिफलन हो सकती है।”⁷ अवधनारायण मुद्रल जी के साथ बातचीत में रामदरश जी ने भी अनुभव की प्रामाणिकता पर बल दिया है : साहित्य हमारी पूरी संक्षिप्त ज़िन्दगी की तस्वीर पेश करके सही प्रश्न संकेतित करता है और इसलिए पाठक या आलोचक को जो कोई भी जब साहित्य से गुज़रता है तो वह उस ज़िन्दगी की सारी पीड़ा, ज़िन्दगी का सारा ताप, ज़िन्दगी की सारी विषमताओं को अनुभव करता हुआ चलता है। चीज़ उसके अनुभव में आती है, केवल बुद्धि में नहीं आती।⁸ रामदरश जी की कोई भी कहानी उनके अनुभव के दायरे के बाहर नहीं है परन्तु जीवन के अनुभवों को वे हूबहू रचना में उतारते नहीं बल्कि रचना में फिर से उसे अर्जित करते हैं। इससे उनके अनुभवों में निजता और तटस्थता का एक विचित्र सम्मिश्रण देखने को मिलता है जो कुछ ही रचनाकारों में पाया जाता है। उनके अनुभव की निजता जहां पाठक से रचना का तादात्म्य कराती है वहीं अनुभवों के प्रति उनकी तटस्थता अनुभवों में गहराई लाती है। रामदरश जी के इस सामर्थ्य की सफल अभिव्यक्ति का प्रमाण ‘सीमा’, ‘एक भटकी हुई मुलाकात’, ‘दिनचर्या’, ‘ज़मीन’, ‘मुर्दा मैदान’, ‘अतीत का विष’, ‘आखिरी चिट्ठी’, ‘सर्पदंश’, ‘पशुओं के बीच’ और ‘सबाल के सामने’ जैसी कहानियां हैं। परन्तु उनके अनुभवों का दायरा सीमित नहीं है बल्कि व्यापक है। उन्होंने स्वयं कहा है कि ‘साहित्यकार के लिये कोई भी ज़मीन या कोई भी प्रदेश वर्जित नहीं है। सवाल इतना है कि उस जमीन के साथ हमारा अनुभवात्मक सम्बन्ध कितना गहरा है।’⁹

रामदरश जी ने अपनी कहानियों में कविता के तत्वों-बिम्बों और प्रतीकों का इस्तेमाल किया है। इससे उनके अनुभवों में सघनता आयी है। कविता के तत्व उनकी अधिकांश कहानियों में देखने को मिलेंगे लेकिन ‘सीमा’, ‘बेला मर गयी’, ‘एक रात’ और ‘ठहरा हुआ समय’ विशेष उल्लेखनीय है। सीमा (सीमा) के अभिषप्त जीवन को

प्रतीकों और बिम्बों के माध्यम से लेखक ने व्यक्त करने की कोशिश की है : “चील एकाएक टिहा उठी और उदास सूखे हुए ताल सी टंगी क्वार की दुपहरी में छोटी-छोटी दरारें उभर आईं। मानो ताल की लिपियां हों।” चील के टिहा उठने, उदास सूखे हुए ताल तथा दुपहरी में उभरी छोटी-छोटी दरारों के बिम्बयोजना से सीमा के बेबसी-जनित तनाव को उभारने में रामदरश जी ने अद्भुत कलात्मक संयम का परिचय दिया है। ‘आखिरी चिट्ठी’ में प्रभा की विद्रोही चेतना को उभारने में लेखक ने प्रतीकों और बिम्बों का सहारा लिया है। ‘बेला मर गयी’ में भी बेला की बेबस ज़िन्दगी को बड़ी गहराई से प्रतीकों और बिम्बों द्वारा अभिव्यंजित किया गया है। बेला के सूखे यौवन को, मिट्टी की ऊँची-नीची धारियों की तरह उभरी हुई उसकी नीली नीली नसों को और उसके चेहरे पर काली काली झाड़ियां देखकर कथानायक चिन्तित हो उठता है। उसे लगता है जैसे “किसी सद्यः प्रस्फुटित सूर्यमुखी की मौत हो गयी है, बसन्त की एक सुन्दर सुबह को ओले से भरे हुए बादलों ने कुचल कर मार डाला है” और जो कुछ शेष बचा है उस पर मरसिया पढ़ने के लिए वह और मात्र वह छोड़ दिया गया है। बेला के सूखे हुए यौवन को ‘प्रस्फुटित सूर्यमुखी’ तथा ‘बसन्त की एक सुन्दर सुबह’ की मौत बताकर उसकी घुटन भरी, बेबस ज़िन्दगी को अधिक सघनता से व्यंजित करने में लेखक को सफलता मिली है। परन्तु ‘एक रात’ के प्रवीन के द्वन्द्व को उभारने में, अति भावुक हो जाने के कारण वे असफल हो जाते हैं “सामने खड़ी पत्नी को देखकर प्रवीन कांप गया। रेखा चुपचाप पति को फटी-फटी आंखों से देखती रही। एक ओर पत्नी खड़ी थी, दूसरी ओर कामायनी के पृष्ठ पर श्रद्धा। शाम को दोनों ओर थी-- एक ओर गुनगुनाती हुई लज्जा की लाली को छिपाती हुई कोमल संध्या दूसरी ओर रोकर चुकी हुई आंखों की लाली की तरह पूस की भारी-भारी सांझ।” इन पंक्तियों की सहज गीतात्मकता का भावोद्रेक भले ही मिले परन्तु प्रवीन की अन्तर्द्वन्द्व को उभारने में ये नितान्त असफल हैं। यहां रामदरश जी अपने कवि हृदय पर अंकुश लगाने में सफल नहीं हो सके हैं जिससे सम्प्रेषण में एक अवरोध उत्पन्न हुआ है। यही अवरोध ‘ठहरा हुआ

समय' में भी उत्पन्न होता है जिससे विजय के अकेलेपन की वेदना की तीखी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। कहानी में कविता का इस्तेमाल आरोपित न होकर कहानी की शर्तों पर आधारित होना चाहिए अन्यथा कहानी भावुकता का शिकार हो जायेगी। रामदरश जी ने स्वयं इस बात को स्वीकारा है कि कहानी में कविता का प्रवेश "उसकी रचनात्मक मांग के रूप में होनी चाहिए।"^{१०}

रामदरश जी की रचना प्रक्रिया में एक और दोष मुझे दिखाई पड़ता है। अक्सर वे स्थितियों के अनावश्यक विस्तार में चले जाते हैं जिससे कहानी बोझिल और उबाऊ हो जाती है। ऐसा शायद वे इसलिए करते हैं क्योंकि वे पूरी स्थिति के चित्र खींचने के लोभ का संवरण नहीं कर पाते। परन्तु ऐसा करके वे पाठक की सोच के लिये कुछ भी नहीं छोड़ते। 'एक अधूरी कहानी', 'आखिरी चिट्ठी' 'अकेला मकान' आदि कहानियों में कई जगह अनावश्यक विस्तार किया गया है जिससे ये कहानियां उबाऊ हो गयी हैं।

परन्तु इन थोड़ी-सी त्रुटियों के बावजूद रामदरश जी एक समर्थ रचनाकार हैं। उनकी त्रुटियाँ भी एक समर्थ रचनाकार की त्रुटियाँ हैं। वास्तव में रामदरश जी का अनुभव संसार इतना व्यापक और जटिल है कि उसके सभी आयामों को एक छोटे से लेख में समेट पाना कठिन है। फिर भी उनकी सामाजिक सोच, जन समुदाय के दुःख-दर्द, आशा-आकांक्षाओं, से जुड़ने का उनका दायित्व-बोध, जन संघर्षों की सृजनात्मक अभिव्यक्ति और पतनशील पूंजीवादी सामन्ती संस्कृति का पर्दाफाश उनकी रचना-यात्रा के कुछ ऐसे महत्वपूर्ण आयाम हैं जिनसे उन्होंने निस्सन्देह समाजधर्मी सशक्त कहानीकारों में अपना स्थान बना लिया है। आलोचकों का दायित्व है कि दलगत भावना से ऊपर उनकी कहानियों का वस्तुपरक मूल्यांकन करें।

संदर्भ

१. डॉ० विवेकी राय, कल्पना, अगस्त-सितंबर १९६९, पृ० १६१ १
२. सारिका, अगस्त, १९८१, पृ० १७।

३. इलाचन्द जोशी : विकल्प, विशेषांक मई १९९९, पृ० १९।
४. डॉ० वेदप्रकाश अमिताभ : संचेतना, मार्च, १९८३, पृ० ६५ १
५. रामदरश मिश्र : खाली घर की भूमिका, पृ० १५ १
६. विकल्प विशेषांक, मई १९६७, पृ० १६७।
७. डॉ० महीप सिंह : हिन्दी कहानी दो दशक की यात्रा, सं० डॉ० रामदरश मिश्र एवं डॉ० नरेन्द्र मोहन, पृ० १६।
८. सारिका, अगस्त १९८१, पृ० १४।
९. सारिका, अगस्त १९८१, पृ० १० १
१०. सारिका, अगस्त १९८१, पृ० १५।



पुस्तक समीक्षा

रामदरश मिश्र कृत सुख दुख के राग : 'कोविड-काल' के दौरान दर्ज साहित्यिकी डायरी में

डॉ वेद मित्र शुक्ल

अंग्रेजी विभाग, राजधानी कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, राजा गार्डन, नई दिल्ली- ११००१५
मोबा. ९९५३४५८७२७, ९५९९७९८७२७

पुस्तक: सुख दुख के राग: रामदरश मिश्र की डायरी,
संपा.: विवेक मिश्र,
प्रकाशक: सर्वभाषा ट्रस्ट,
वर्ष २०२२,
मूल्य: ४००/-,
पृष्ठ: १३१ (सजिल्द)

सुख दुख के राग: रामदरश मिश्र की डायरी पुस्तक में यों तो २० नवंबर २०१९ से लिखी गई डायरी के पन्ने दर्ज हैं, लेकिन १६ अप्रैल २०२० की डायरी 'लाक डाउन' से लेकर १६ अगस्त २०२२ को लिखी गई 'मैं अठानबे वर्ष का हो गया, डायरी एक महत्वपूर्ण दौर को निबद्ध किये हुए है। यह दौर वह कालखंड है जिसे 'कोविड-१९' का दौर कहा गया, और साथ ही, 'उत्तर-कोविड १९' का भी। इनके प्रभाव से उपजे समय में जो साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दस्तावेज उपलब्ध होते हैं उनको सहेजे यह डायरी सुख दुख के राग समय के साथ उत्तरोत्तर मूल्यवान होती जायेगी। कारण ये कि प्रस्तुत डायरी उस भयावह समय की मात्र सूचनाओं, खबरों, तौर-तरीकों आदि को नहीं, बल्कि शतायु को प्राप्त हो रहे एक शताब्दी पुरुष वरिष्ठ साहित्यकार रामदरश मिश्र की दृष्टि से संपन्न है। इस पुस्तक को पढ़ते हुए यह भी सनद रहे कि जब कोई साहित्यकार अपनी डायरी में समय को संजोता है तो वह अखबारी दस्तावेज न होकर के अनेक अर्थों से युक्त पाठ को संजोये होता है। अपनी विशेष प्रकार की भाषा-शैली और

कथ्य के कारण सहजता का पर्याय माने जाने वाले मिश्र जी की साहित्यिक, प्रवृत्तियों में अभिधात्मक व्यंजना प्रमुख है जो उनकी आत्मकथ्यात्मक सर्जना के लिए पूर्ण रूप से अनुकूल होती है। इसी प्रवृत्ति के कारण उनकी डायरी में आत्मपरक नहीं, आत्मगत विषय उभरकर आते हैं जो व्यष्टि से समिष्टि और समिष्टि से व्यष्टि की यात्रा करते हुए सामान्य दिनचर्या नहीं, अपितु, दिनचर्या से जुड़े समाज, साहित्य, संस्कृति और इतिहास का विषय होते हैं। इनका पाठक एकरसता से ग्रस्त नहीं हो पाता है। वह अपने स्तर पर आचार्य विश्वनाथ कहे अनुसार 'वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्' की ओर प्रवृत्त हो चलता है। मिश्र जी डायरी से जुड़ी उपर्युक्त बातों को उन्हीं के शब्दों में अभिव्यक्ति देना चाहें तो इस डायरी के प्रकाशन वर्ष में प्रकाशित हुए उनके कविता संग्रह समवेत से इन पंक्तियों को पढ़ा जा सकता है 'दिन पर दिन बीते जाते हैं, दिन पर दिन बीते जाते हैं। सौ के आस पास का जीवन, अंग-अंग बन गया दर्द है। कभी उष्म हो जाता है पर अक्सर रहता समय सर्द है। कोई दिन कुछ भर जाता पर शेष बहुत रीते जाते हैं।.... लेकिन अपना गेह साथ है भरा हुआ अति

सद्भावों से। आते रहते अपने से कुछ लोग सर्जना के गाँवों से/कविता रस बरसाती रहती हम प्यासे पीते जाते हैं (पृ. ५६)।”

निश्चित रूप से यह डायरी बिलकुल कोविड-१९ के समय को लक्ष्य करके नहीं लिखी गई है। क्योंकि इसका प्रारम्भ नवंबर २०, २०१९ के पन्नों से होता है जहाँ “याद आया मेरे बचपन का गाँव” शीर्षक से मिश्र जी के गाँव के बारे में आंचलिक तत्वों को समेटे एक ललित निबंध जैसी रचना है। यह विशेष रूप से उन शोध छात्रों को ध्यान में रखकर लिखी गई है जो उन पर शोध के दौरान उनके गाँव के बारे में जानना चाहते हैं। साथ ही घर पर काम के लिए आने वाली स्त्री से जुड़े मानवीय मूल्य, वर्ष २०२० के बिलकुल शुरुआती दौर में जनवरी माह में चल रहे विश्व पुस्तक मेले की चहल-पहल, आस-पड़ोस के सुख-दुख, भारत गैस सिलेंडर से जुड़ा प्रसंग आदि उल्लेखनीय है। रामदरश मिश्र जी की मुल्यवान सहजता के पीछे उनके द्वारा प्रायः बाहरी तौर पर निर्दिष्ट विषयों को लक्ष्य करके अपना अधिकांश साहित्य न रचने की प्रवृत्ति भी है।

कोविड काल को जिस रचनात्मकता के साथ इस डायरी में दर्ज किया गया है वह अप्रैल १६, २०२० के पन्ने पर लिखे गये “लाक डाउन” शीर्षक के अंतर्गत आई डायरी से आरम्भ करके पुस्तक में अगस्त १६, २०२२ को दर्ज “में अठानबे वर्ष का हुआ” शीर्षक से डायरी के अंतिम पन्ने तक में देखी और पढ़ी जा सकती है। बानगी के तौर पर सोलह अप्रैल को जब पहला लाक डाउन लग चुका है तो वो लिखते हैं, “कोरोना-प्रसूत लॉक डाउन चल रहा है। अब मित्रों और परिचितों से फोन से ही वार्ता हो पा रही है। लोग पूछते हैं- ‘इस खाली समय में आपकी दिनचर्या क्या है, क्या लेखन हो रहा है (पृ०३५)?” संभवतः इसी प्रश्न के उत्तर में शतायु की ओर अग्रसर एक वरिष्ठ सिद्धहस्त साहित्यकार की इस डायरी के आगे के पन्नों को पढ़ा जा सकता है। इस दौरान उनके द्वारा नए तरीके से संस्मरण लिखे जाते हुए और भी बहुत कुछ लिखा जा रहा होता है। यह संक्षेप में ७ अगस्त २०२१ को लिखे डायरी के पन्नों पर पढ़ा जा सकता है जहाँ वो लिखते हैं, “कोरोना ने तो साल भर से घर में बंदी बना रखा है। मुक्त समय होता और पाँव मुक्त होकर चलने लायक होते तो घर से निकलकर पार्क में यहां-वहां घूम आता।

लेकिन साहित्य का ही वरदान है कि मैं घर में खाली रहकर भी भीतर से भरा भरा अनुभव करता हूँ। एक अच्छी बात यह भी हो रही है कि नए-नए प्रकाशक प्रकाशन खोल रहे हैं और मुझसे किताबों की मांग करते रहते हैं। मैं अपनी ढेर सारी कहानियों में से ही किसी विशेष मुद्दे पर आधारित कहानियाँ चुनकर नया संग्रह बना लेता हूँ और प्रकाशक उसे लेकर प्रसन्न भाव से चला जाता है। इस तरह से इधर मेरे कई कहानी संग्रह आए जैसे ‘सपनों भे दिन’ (बचपन पर आधारित), ‘अभिषप्त लोक’ (दलितों के जीवन पर आधारित), ‘गाँव की आवाज’ (गाँव से संबंधित कहानियाँ) चुनी हुई श्रेष्ठ कहानियों का संग्रह ‘एक भटकी हुई मुलाकात’। इसी तरह चुनी हुई कविताओं के भी कई संग्रह आए। इसी वर्ष ‘मेरा कमरा’ नाम से डायरी पुस्तक और ‘सुरभित स्मृतियाँ’ नाम से संस्मरणों की एक पुस्तक भी आई। ये पुस्तकें तो मेरे खालीपन को भरती ही है इनकी समीक्षाएँ और मेरी सर्जना के संबंध में लिखे गये लेख भी सुख देते रहते हैं। हर रविवार को बेटा स्मिता द्वारा आयोजित (ऑनलाइन) काव्य संध्या में कई लोगों के सान्निध्य में बैठना, उन्हें सुनना और स्वयं कविताएँ पढ़ना भी तो समय को प्रीतिकर बना देता है (पृ. ७४)।”

पूरे कोरोना काल के दौरान अनेक प्रकार से साहित्यिक कार्यों के लिए मन को तैयार रख पाना और छोटे छोटे कदमों से साहित्य जगत में रौनके बिखेरते रहने की नब्बे पार मिश्र जी की कोशिशें प्रणम्य है। उत्तर कोविड काल से जुड़े डायरी के पन्नों में देश के अति प्रतिष्ठित बड़े साहित्यिक सम्मान सरस्वती पुरस्कार २०२१ से सम्मानित होने के दर्ज दिनों को पढ़ना पाठक के लिए किसी उपलब्धि से कम नहीं है।

कुल मिलाकर वरिष्ठ साहित्यकार रामदरश मिश्र जी की ‘सुख दुख के रागः रामदरश मिश्र’ की डायरी शीर्षक से डायरी जो उनके पुत्र सुविख्यात अभिनेता विवेक मिश्र द्वारा संपादित है उनकी अब तक आ चुकी पाँच डायरियों के बाद उनके समूचे सर्जनात्मक कथेतर गद्य साहित्य में एक और मील के पत्थर रूप में देखी और पढ़ी जानी चाहिए।

मेरे अपने रामदरश जी

प्रकाश मनु

५४५ सेक्टर २९, फरीदाबाद
हरियाणा पिन-१२१००८
मो० ०९८९०६०२३२७

दिल्ली आने के बाद की जिन घटनाओं को आज तक नहीं भूल पाया, उन्हीं में एक वह प्रसंग भी है एक घटना विहीन घटना, जब मैं पहली बार रामदरश जी से मिला था। तब क्या जानता था कि वह धूप खिला सीधा सरल दिन मेरे भीतर इस कदर गहरे धँस जाने वाला है कि मैं अपने जीवन में उसकी स्नेहिल और रागात्मक दस्तकें हमेशा सुनता रहूँगा और रामदरश जी को याद करना मेरे लिए अपने घर के किसी आत्मीय जन या किसी बड़े बुजुर्ग को याद करने जैसा हो जाएगा।

याद पड़ता है, मेरे दिल्ली आने के यह कोई पाँच बरस बाद की बात है। संभवतः सन् १९८९ की। उन दिनों मैं दिल्ली प्रेस की नौकरी छोड़कर हिंदुस्तान टाइम्स की बच्चों की पत्रिका 'नंदन' के संपादकीय विभाग में आ गया था। मेरे साथ बच्चों के प्रसिद्ध कवि रमेश तैलंग के अलावा देवेंद्रकुमार भी थे, जो 'नंदन' पत्रिका में मेरे वरिष्ठ सहयोगी और बड़े अच्छे मित्र थे। काफी अच्छी कविताएँ और कहानियाँ वे लिखते थे, पर लिख-लिखकर अपनी फाइल में रखते जाते। उनकी कहानियाँ तो शुरू-शुरू में 'धर्मयुग' और 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' समेत कई अच्छी पत्रिकाओं में छपीं भी, लेकिन कविताएँ अप्रकाशित रहीं। मेरी भी बहुत-सी कविताएँ 'लहर', 'जमीन', 'कथन', 'ऋतुचक्र', 'धरती', 'आने वाला कल' वगैरह लघु पत्रिकाओं में पहले छप चुकी थीं, लेकिन नौकरी की भागम भाग में मैं सबसे कटता चला गया। अब मन था कि वे चीजें फिर से सामने आएँ, किसी एक किताब की शकल में। लिहाजा देवेंद्र जी और मैंने 'कविता

और कविता के बीच' संकलन निकाला। यही कविता संकलन रामदरश जी को भेंट करने के लिए उनका पता कहीं से खोजकर मैं देवेंद्र जी और रमेश तैलंग के साथ उनके घर पहुँचा था।

तब की मेरी मनःस्थिति क्या थी, इसे शब्दों में बता पाना मुश्किल है। दिल कुछ असामान्य ढंग से धड़क रहा था। खासा संकोच था, और एक अजब तरह की उत्तेजना भी इतने बड़े कवि-कथाकार से मिलने जा रहे हैं, जिसकी रचनाएँ न जाने कब से पढ़ते आ रहे हैं या पढ़ पढ़कर बड़े हुए हैं। शाम का समय। हम लोग बिना सूचना दिए अचानक ही पहुँच गए थे। सूचना देते भी कैसे ? हमारे पास तो केवल उनका पता ही था, जो हमने किसी पत्रिका से टीप लिया था -आर३८, वाणी विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली। फोन नंबर तो था नहीं। लिहाजा हम लोग सीधे पहुँच गए और यह संकोच हमारे चेहरों पर था।

जैसे बरसों बल्कि सदियों से हमारे जाने हुए थे। घर के बाहर बरामदे में फरवरी की गुनगुनी धूप में खरहरी खाट पर लेटे हुए। एकदम गँवई गाँव के किसान की मानिंद। वैसी ही सीधी देहयष्टि, वैसा ही मुक्त मन, वैसी ही खुली बातें। सच्चाई की आब से दमकता माथा, चमकती आँखें। सिर पर इतने छोटे बाल, जैसे बिना कंधी किए सिर्फ हाथ फिराकर छोड़ दिए गए हों। कोई खास लेखकीय मुद्रा नहीं। बस मिले, परिचय हुआ और गपशप चल निकली। कुछ ऐसे, जैसे एक लंबे अंतराल के बाद घर के किसी चिर-परिचित व्यक्ति से मिल रहे हैं। और साहित्य- चर्चा की उस

अनाविल रसधारा में कितने ही दिलचस्प प्रसंग आ-आकर जुड़ते चले गए। बहुत-सी बातें उनसे कहने-सुनने को हमारे भीतर उमड़ और अकुला रही थीं और रामदरश जी भी हमारे संग-संग बहते बतियाते हुए थक नहीं रहे थे।

इसी बीच मैंने और देवेन्द्र जी ने उन्हें पुस्तक भेंट की और थोड़ी बहुत बातचीत के बाद मैंने अपने खास अंदाज में कहा, 'डाक्साब, ये कविताएँ हमने खुद छपवाई हैं। सोचा कि जब खून जलाकर लिखी हैं ये कविताएँ तो कुछ पैसा खर्च करके उन्हें छपवा भी दिया जाए।....' इस पर रामदरश जी एकाएक चिंतित हो गए। बोले, 'अरे-अरे! आपका तो परिवार है न। फिर ये खून से कविताएँ लिखने की क्या बात कर रहे हैं?' इस पर कुछ ऐसा ठहाका पड़ा कि मैं फुस्स। मुझे लगा था कि रामदरश जी मुझे ठीक से समझ नहीं रहे हैं या मैं उन्हें ठीक से नहीं समझा पा रहा। मैंने थोड़ी बहुत कोशिश की भी, पर मैं समझता हूँ, मैं ज्यादा कामयाब नहीं हुआ।

बहरहाल, मैंने यह प्रसंग छोड़कर रामदरश जी से अनुरोध किया कि वे अपनी कुछ कविताएँ सुनाएँ। इसी सिलसिले में उनकी 'साक्षात्कार' कविता का भी जिक्र आया और देर तक चला। मुझे जानकर अच्छा लगा कि यह रामदरश जी की भी प्रिय कविता है। लेकिन जब उन्होंने हमारे आग्रह पर कविताएँ सुनानी शुरू कीं, तो कुछ छोटी-छोटी प्रगीतात्मक कविताएँ ही सामने आईं।

अचानक मुझे उनकी बहुत-सी प्रसिद्ध कविताओं के साथ-साथ 'पाँच जोड़ बाँसुरी' में पढ़े एक बहुत पुराने गीत 'उमड़ रही पुरवाई कुंतलसी, अंबर पर लहराए कारेकारे बदरा....!' की याद आई। मैंने बहुत संकोच के साथ आग्रह किया कि अगर उनका मन हो तो वे यह गीत भी सुनाएँ। इस पर उन्होंने वह पुराना पावन गीत तो सुनाया ही, अपनी कुछ फागुनी कविताएँ भी सुनाईं, जिनकी गंध अब भी मेरे मन में बसी हुई है। इनमे वसंत के अनेक प्रतीकार्थ थे और बहुत अछूते रागात्मक बिंब। महानगर में वसंत के आने और भीड़ की भबभड़ और तेजी के बीच उसके चुपचाप उपेक्षित होकर चले जाने का दर्द भी था।

रामदरश जी से मिलकर लौटते हुए लगा, हम एक भरा पूरा दिन जीकर लौटे हैं। इसमें कोई कुंठा नहीं,

कोई दुराव नहीं, कोई मैल-मत्सर नहीं। यह एक वासंती धूप खिला दिन था, जिसमें भीतर-बाहर की उजास थी और यह दिन मेरे लिए 'घटना' इसलिए बन गया कि उस दिन एक बड़े लेखक का एक बिंब मेरे मन में बना कि वह सीधा-सहज और अपनापे से भरा होता है। मिलने पर वह आपको छोटा नहीं करता, बल्कि कुछ और बड़ा बनाकर एक गहरे प्यार और खुलेपन के साथ अपना लेता है।

मैं स्वीकार करूँगा कि रामदरश जी से मिलने पर बना बड़े लेखक का यह बिंब मेरे मन में कुछ ऐसी जड़ें जमा चुका है कि जिन लेखकों के पास जाने पर जीवन के यह सहज ऊष्मा नहीं मिलती, उन्हें लेखक मानने में मुझे कुछ-कुछ शक होने लगता है। बहरहाल, उस दिन के बाद न रामदरश जी हमारे लिए अजनबी रह गए, न हम उनके लिए। जब-जब मिले, यही लगा, जैसे हम सदा से उन्हें जानते हैं और वे सदा से हमारे साथ हैं, हमारे अपने हैं उसके बाद रामदरश जी से मुलाकातों का सिलसिला शुरू हुआ, तो बरसोंबरस चला और आज भी थमा नहीं है। हालाँकि मैं 'नंदन' पत्रिका में था, तो वहाँ मिलने की ज्यादा सुविधा थी। कनॉट प्लेस पहुँचना उनके लिए ज्यादा मुश्किल नहीं था। मैं भी कभी-कभी बड़ी सुबह निकलता था और उनसे मिलने के बाद दफ्तर आ जाता था। हालत यह थी कि कुछ दिनों तक मुलाकात न हो तो न उन्हें चैन पड़ता था, न मुझे। उनकी कोशिश होती थी कि घर से निकलें तो किसी न किसी तरह रास्ते को कनॉट प्लेस की ओर मोड़कर चाहे थोड़ी देर के लिए ही सही, मुझसे मिल लें। और वे नहीं आते थे, तो मैं ही सुबह-सुबह उनके घर जा पहुँचने और साहित्य-चर्चा के साथ-साथ उनके साथ नाश्ते का आनंद लेने का सुख छोड़ नहीं पाता था।

इस बीच मैं ही नहीं, मेरी रचनाएँ भी कैसे उनके निकट आती चली गईं और वे उनके बारे में अपनी राय, आलोचना और सुझाव स्पष्ट तौर से देते हुए अपने साथ साथ खुद मेरी राह भी बनाते चले गए, यह याद करता हूँ तो हृदय उनके आगे कृतज्ञता से झुका पड़ता है।

मुझे याद है, मेरा दूसरा कविता-संग्रह 'छूटता हुआ घर' जब निकला था, तो यह एक तरह विस्मृति में ही विलीन हो गया था। मुझे याद नहीं पड़ता, इस पर कहीं

कोई आलोचनात्मक प्रतिक्रिया या समीक्षा छपी हो। लेकिन हाँ, रामदरश जी ने इस पर एक लंबा-सा पत्र लिखा था और यह प्रसन्नता प्रकट की थी कि 'कविता और कविता के बीच' के दिखावटी विद्रोह वाला रास्ता छोड़कर मैंने अच्छा किया। और इधर की मेरी कविताओं में जीवन की बेचैनी, तनाव, पीड़ा और बीच-बीच में बड़ी प्रसन्न छवियाँ भी कई रूपों में छलछला कर सामने आ रही हैं।

'छूटा हुआ घर' पर प्रथम गिरिजाकुमार माथुर की स्मृति पुरस्कार देने की घोषणा हुई, तो इसकी सूचना भी रामदरश जी ने ही मुझे दी। रात को करीब नौ साढ़े नौ बजे उनका फोन आया और उन्होंने कहा, "एक अच्छी खबर आपको देनी है। प्रथम गिरिजाकुमार माथुर स्मृति पुरस्कार के लिए आपके संग्रह 'छूटा हुआ घर' को चुना गया है।" मैं हक्का-बक्का। मैंने तो कभी यह सपने में भी नहीं सोचा था। और सच कहूँ तो पुरस्कारों के लिए मन में एक अरुचि सी थी। मैंने कहा, 'डाक्साब, मैं तो पुरस्कारों के पक्ष में नहीं हूँ, और उन्हें नापसंद करता हूँ। इस बारे में लिखता भी रहा हूँ।'

रामदरश जी ने कहा, 'आपने तो पुस्तक पुरस्कार के लिए जमा की नहीं थी। पुरस्कार के निर्णायकों (रामदरश मिश्र, जगदीश चतुर्वेदी तथा अजितकुमार) ने खुद-ब-खुद आपकी पुस्तक पढ़कर यह निर्णय लिया है। पिछले तीन वर्षों में छपे सभी कविता संग्रहों को पढ़ने के बाद यह निर्णय लिया गया है। इसके बाद माथुर जी के परिवार की भावना भी जुड़ी है। अगर आप इनकार करेंगे, तो उन्हें अच्छा नहीं लगेगा।'

मैंने कहा, 'ठीक है डाक्साब, पर मैं राशि स्वीकार नहीं करूँगा।'

उन्होंने कहा, 'हाँ, यह निर्णय तो आपको करना है। आप इस बारे में चाहे जो भी निर्णय कर सकते हैं।'

बहरहाल, त्रिवेणी सभागार में हुए आयोजन में 'छूटा हुआ घर' की कविताओं पर वे जिस आवेश और आग्रह के साथ बोले थे, उसकी याद बहुतों को होगी।

बाद में जब पुरस्कार की राशि में कुछ राशि और जोड़कर मैंने 'सदी के आखिरी दौर में' नाम मित्र कवियों का

एक संग्रह निकाला, तो चाहे ज्यादातर साहित्यिक दुनिया के महानों ने उसके प्रति उपेक्षा ही दर्शाई हो, पर रामदरश जी ने त्रिवेणी सभागार में इन अज्ञात कुलशील कवियों की कविताओं के बारे में खूब बोला, खूब जमकर तारीफ की। सच तो यह है कि कुछ घिसे हुए नामों को ही बार-बार घिसते जाने और नयों के प्रति हमारी उपेक्षा का हाल यह है कि अगर रामदरश जी ने प्रयत्न न किया होता, तो शायद आज तक यह संग्रह छपकर न आ पाता!

ऐसा नहीं कि यह सिर्फ मेरे साथ ही हुआ हो, शायद रामदरश जी से मिलने वाले सभी नए-पुराने, खासकर युवा लेखकों की यही प्रतीति रही होगी। वे परिवार के किसी सहृदय मुखिया की तरह नए लोगों का मनोबल बढ़ाते हैं। कम से कम दिल्ली में युवा और नए लेखकों को इतना प्यार करने वाला उन जैसा कोई दूसरा लेखक ढूँढ़ना मुश्किल है। और फिर यह प्यार निष्क्रिय भी नहीं। नए से नए लेखक की रचनाएँ पढ़ना और अगर वे चाहें, तो उन्हें अपनी सुचिंतित सलाह देना, उन्हें अपने साथ चला ले जाना ये कुछ ऐसी चीजें हैं जिनके पीछे कहीं न कहीं हमारी एक विस्मृत गुरु-शिष्य परंपरा के कुछ-कुछ बारीक धागे गौर से देखने पर नजर आ सकते हैं।

सच तो यह है कि रामदरश जी उन लोगों में से हैं, जिनमें परंपरा का बहुत कुछ बचा हुआ नजर आ सकता है। वे न परंपरा का अंध पाठ करने वाले में से हैं और न परंपरा की खिल्ली उड़ाने को ही 'आधुनिकता' मान लेने वालों की जमात में। इसके बजाय वे आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रसाद और निराला की उस परंपरा में हैं, जिसमें परंपरा के सार्थक हिस्से को अपना कर उसे पुनर्नवा कर दिया जाता है। शेष जो अप्रासंगिक और निरर्थक हो चुका है, खुद-ब-खुद छूटा चला जाता है। लिहाजा कुछ छोड़ने और बहुत कुछ ग्रहण करने की उनकी परंपरा आगे चलकर खुद-ब-खुद आधुनिकता का ही एक जरूरी हिस्सा हो जाती है। सच पूछिए तो दंभ और छद्म से भरे बहुत से अतिरेकी आधुनिकतावादियों की तुलना में रामदरश जी मुझे कहीं ज्यादा आधुनिक लगते हैं। दिल्ली में इतने बरस रहकर भी रामदरश जी न अपने गाँव की मिट्टी, खेत और पानी की गंध को भूले हैं और न वहाँ के दुख और

समस्याओं के बीहड़ को! उनका गाँव उनके साथ-साथ चलता नजर आता है। कोई ताज्जुब नहीं कि दिल्ली में इतने बरस रहने के बाद आज भी वे गँवई गाँव के आदमी लगते हैं और इसमें उन्हें कोई शर्म नहीं महसूस होती। रामदरश जी की एक प्रसिद्ध कविता है जिसमें वे बताते हैं कि अपने घर में उन्होंने कच्ची जमीन छोड़ रखी है। यह कच्ची जमीन इसलिए कि वहाँ परंपरा के बिरवे और हरी घास लहराती रहे। यह जो वनस्पतियों के साथ होना है, यह अनिवार्यतः जीवन के साथ होना है और शायद यही चीज उन्हें भीतर से इतना समृद्ध करती है।

रामदरश जी की रचनाओं को पढ़ें या उनके निकट जाकर उनके व्यक्तित्व की लकीरों को पढ़ें, उनकी बातें सुनें इस बात की तरफ आपका ध्यान जरूर जाएगा कि वे जीवन से बहुत मजबूती से और गहरे आंतरिक लगाव से जुड़े हैं और उनके पैर पूरी तरह जमीन पर हैं। इसीलिए उनकी आस्था जितनी मनुष्य में है, उतनी किसी और में नहीं। उनका मानना है कि ईश्वर है या नहीं है, यह बड़ी बात नहीं, बड़ी बात यह है कि मनुष्य है। इसी से यह धरती इतनी सुंदर है और इसी से यह दुनिया इतनी अजब, निराली और बहुरंगी है। रामदरश जी के बीज शब्द हैं-गाँव, मिट्टी, पानी, परंपरा और अपने लोग। और उनके निकट जाएँ, तो इन शब्दों के नए-नए अर्थ, बल्कि इनका एक समूचा दर्शन समझ में आता है और जीवन से रामदरश जी के गहरे लगाव का पता चलता है। यहाँ तक कि उनके लेखन का बीज या 'उत्स' भी यहीं कहीं है। माँ और पिता की भावुकता, खासकर पिता के फक्कड़ स्वभाव और गाँव की मिट्टी के खिंचाव और मस्ती भरे परिवेश ने इसे यकीनन कुछ और बढ़ा दिया।

एक बार अंतरंग क्षणों में बड़े गहरे भावाकुल अंदाज में उन्होंने बताया था, 'मेरी माँ और पिता दोनों ही बड़े भावुक थे। पिता तो कुछ सैलानी, घुमक्कड़ तबीयत के थे और भावुकता, रसिकता उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। वे होली आदि त्योहारों पर मस्ती में भरकर गाया करते थे तो देखते बनता था। ऐसे ही स्त्रियों के गीतों में हमेशा माँ सबसे आगे होती थी। मुझे लगता है, इस पारिवारिक परिवेश का भी जरूर कुछ न कुछ असर हुआ होगा और लेखन का जो बीज भाव भीतर मौजूद था, उसका पोषण हुआ ...तो इस

तरह जो गाँव मैंने जिया है, वह ऐसा गाँव है जो सौंदर्य और अभाव से ठसा हुआ गाँव है, बाढ़ की विभीषिका से हर क्षण काँपता हुआ गाँव। लेकिन बाढ़ का पानी उतरते ही मिट्टी की महक इस कदर खींचने-लुभाने लगती है कि मस्ती में भरकर लोग गा रहे हैं, बजा रहे हैं। दरअसल तब लोगों की प्रवृत्ति मस्ती की थी, मस्ती से जीने की। व्यावसायिक बुद्धि इतनी नहीं थी। गाने-बजाने में लोग इतने मस्त रहते कि खेतों तक की ज्यादा 'चिंता नहीं रहती थी।'

गाँव के इसी परिवेश में, जिसमें घर-परिवार के साथ ही प्रकृति, स्कूल, खेत-खलिहान, हाट-बाजार और पर्व-त्योहार सभी एक दूसरे में गुँथे हुए थे, रामदरश जी का बचपन बीता। एक ओर घर की अफाट निर्धनता, कमजोर कच्ची भीतें, टपकते छप्पर, निर्धनता से पैदा हुए दुख, क्षोभ और अपमान, हर साल फूटकारती हुई आती बाढ़ का आतंक और दूसरी ओर गाँव के जीवन की भावनात्मक समृद्धि, इनसानी संवेदना और गाने-बजाने की मस्ती !....

शायद जीवन की इस खुली पाठशाला से ही रामदरश जी ने जीवन के बड़े-बड़े पाठ सीखे। थोड़ी बहुत तुकबंदी भी शुरू हो गई। कोई लोकगीत सुनते या कविता पढ़ते तो उन्हें लगता, 'अरे, ऐसा तो मैं भी लिख सकता हूँ।' और यों भीतर का जो भराव था, जो रचनात्मक समृद्धि थी, उसने कविता की ओर वह आने का क्षीण ही सही, मगर रास्ता जरूर तलाश लिया था।

बाद में बनारस जाने पर रामदरश जी को जैसे एक नया दे जीवन मिला। ज्ञान की एक दुनिया खुलने का रोमांच उनके भीतर भर गया था। वे बताते हैं, 'पहला अनुभव बनारस का यही था कि एक गाँव के आदमी के भीतर एक बड़े शहर का परिदृश्य खुल पड़ा। शहर की अनेक सुंदरताएँ मन को अभिभूत कर देने के लिए काफी थीं...!' और फिर लिखना तो चल ही रहा था। त्रिलोचन जी से, नामवर जी से, और बनारस के बहुत से साहित्यकारों से निकटता हुई। सबको सुनते, ग्रहण करते रामदरश जी धीरे-धीरे एक लेखक के रूप में अपनी राह बना रहे थे। उनकी कविताओं में ऐसी सादगी थी, जो सबको मुग्ध करती थी। दिलचस्प बात यह है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से रामदरश जी की निकटता भी उनकी एक कविता के माध्यम से ही हुई थी।

हुआ यह कि काशी विद्यापीठ में एक कविगोष्ठी थी, जिसकी अध्यक्षता आचार्य द्विवेदी कर रहे थे। रामदरश जी ने अपना प्रसिद्ध गीत पढ़ा, 'उमड़ रही पुरवैया कुंतल जालसी...!' पढ़ते पढ़ते चोर निगाहों से द्विवेदी जी की ओर देखा, तो मालूम पड़ा कि वे आँखें बंद किए झूम रहे हैं। सिर हौले हौले हिल रहा है।

गोष्ठी के बाद उन्होंने रामदरश जी से पूछा, 'क्या कर रहे हो?' रामदरश जी ने कहा, 'आपका शिष्य हूँ।' बस, उसी दिन से वे उनके प्रिय शिष्यों की कोटि में आ गए। रामदरश जी के गीतसंकलन 'पथ के गीत' की भूमिका भी आचार्य द्विवेदी ने ही लिखी थी।

इसके बाद उनकी लंबी संघर्षकथा शुरू हुई। कुछ ज्यादा तेजी और आपाधापी उनके स्वभाव में नहीं थी। वे धीरे धीरे चलते गए और बढ़ते गए, और एक दिन वहाँ पहुँचे, जहाँ रामदरश जी का होना पूरे हिंदी साहित्य का गौरव बन गया। इस समय जब रामदरश जी अपनी उम्र के आखिरी चरण में हैं, और अब भी अपनी धुन में जी रहे हैं, लिख और पढ़ रहे हैं, मैं कई बार उन्हें टटोलने की कोशिश करता हूँ। उन्हें बहुत देर से वे चीजें मिलीं, जो बहुतों को शुरूशुरू में और अनायास ही मिल गई थीं, तो क्या उन्हें साहित्य जगत से इस बात की शिकायत है? उनकी कृतियों का उचित मूल्यांकन भी नहीं हो सका, या बहुत देर से हुआ क्या उनके मन में इस बात को लेकर कोई गिलाशिकवा है? विगत में नामी आलोचकों के साथ -साथ आंदोलन के रथ पर सवार तमाम फैशनेबल लोगों द्वारा भी उनकी उपेक्षा और अवमानना हुई। और कुछ ने तो चलताऊ जुमलों में लपेटकर, उन्हें फूँक में उड़ाने की कोशिश की। क्या इसका दर्द वे अब भी महसूस करते हैं?

पर मेरे लिए यह एक सुखद आश्चर्य की बात है कि रामदरश जी इस सबसे बहुत ऊपर उठ चुके हैं। हाँ, जो उनके निकट हैं, उनमें कोई कितना ही मामूली आदमी क्यों न हो, उसके प्रति एक भावनात्मक लगाव उन्हें हर वक्त तरंगित करता है। इस मैत्री और अपनत्व के सुख को वे अंदर तक महसूस करते हैं। और यहाँ तक कि अपने निकटस्थ मित्रों और आत्मीय जनों के लिए वे कृतज्ञता से भरे हुए जान पड़ते हैं। उनकी एक प्रगीतात्मक कविता उनकी इस भावस्थिति

को बड़ी सुंदरता से अभिव्यक्त करती है। जरा आप भी पढ़ें इस कविता की ये पंक्तियाँ:- आभारी हूँ बहुत दोस्तो, मुझे तुम्हारा प्यार मिला, सुख में, दुख में, हार-जीत में एक नहीं सौ बार मिला!

सावन गरजा, भादों बरसा, घिर-घिर आई अँधियारी, कीचड़ काँदों से लथपथ हो, बोझ हुई घड़ियाँ सारी। तुम आए तो लगा कि कोई कार्तिक का त्योहार मिला!

इतना लंबा सफर रहा, थे मोड़ भयानक राहों में, ठोकर लगी, लड़खड़ाया, फिर गिरा तुम्हारी बाँहों में, तुम थे तो मेरे पाँवों को छिन छिन कर आधार मिला !

आया नहीं फरिश्ता कोई, मुझको कभी दुआ देने, मैंने भी कब चाहा, दूँ इनको अपनी नौका खेने, बहे हवा से तुम, साँसों को सुंदर बंदनवार मिला!

हर पल लगता रहा कि तुम हो पास कहीं दाएँ-बाएँ, तुम हो साथ सदा तो आवारा सुख-दुख आए जाए, मृत्युगंध से भरे समय में जीवन का स्वीकार मिला !

ये ऐसी पंक्तियाँ हैं, जिनमें हृदय की संवेदना छल-छल कर रही है। इसलिए इन्हें पढ़ते हुए कभी आँखें भीगती हैं तो कभी अनायास अपने समय के इस बड़े कवि के लिए आदर से भरकर, दोनों हाथ जुड़ जाते हैं, और मैं थोड़ी देर के लिए एकदम चुप और निःशब्द खड़ा रह जाता हूँ।...



सरलता और विद्वता के समन्वय शिखर डा० रामदरश मिश्र

रजनीकांत एस. शाह

विद्वता का अनुसरण सरलता स्वतः करती है। अनुभव में आया भी है कि शिखर पर विराजमान व्यक्तित्व बड़े आराम से लोगों से मिलते हैं और मिलने वालों का संकोच मिटाते हैं। जरा भी असहजता या संकोच अनुभव नहीं होने देते। मैं ऐसे अनुभवों से गुजरा हूँ। जब मेरा मिलना गुजराती नाटक एवं फिल्मों के उच्चायक, सुपर स्टार स्व. उपेंद्र त्रिवेदी जी, उनके अनुज एवं रामायण सीरियल में लंकेश का अभिनय कर के लंकेश के चरित्र को अमर कर देने वाले कलाकार श्रीमान अरविंद त्रिवेदी जी, इसी सीरियल में रावण के अनुज विभीषण का चरित्र निभाने वाले कलाकार स्व. मुकेश रावल जी तथा कलाकार, निदेशक और हिंदी फिल्मों के प्रोड्यूसर अरुण सागरजी (डॉ. रामानन्द सागरजी के बेटे) से अकस्मात ही मिलना हुआ तब उनकी सहजता के कारण मेरा डर तथा संकोच एक ही मिनट में खत्म हो गया था। ऐसा ही अनुभव मैंने मेरे भाग्य निर्माता ऐसे मेरे शोध-निदेशक एवं मेरे प्राचार्य श्रद्धेय डॉ. रमाकांत शर्मा जी से जब पहली मुलाकात हुई, तब हुआ। परिचय के क्षणों में उन्होंने मुझे पूछा कि क्या पीएच.डी कर लिए हो तब मैंने अपनी लाचारी दिखाते हुए कहा कि साहब! मुझे कोई ले नहीं रहा तो उन्होंने बिना एक भी पल गँवाए कह दिया कि मैं तुम्हें अपने विद्यार्थी के रूप में स्वीकार करता हूँ। बस, यूनिवर्सिटी बदल जाने के कारण मुझे कुछ औपचारिकताएँ पूरी करनी होंगी। जैसे ही औपचारिकताएँ सम्पन्न हुई कि गुरुदेव ने मुझे कहा कि मैं अहमदाबाद जा रहा हूँ तो तुम्हारे लिए रजिस्ट्रेशन फॉर्म लेता आऊँगा। बस यहीं से मेरी शोध शुरू हो गई और मेरे गुरुदेव इस संस्मरण नायक से जोड़ने वाले

रामसेतु बन गए।

मेरे गुरुदेव और डॉ. मिश्रजी परम मित्र, रिश्तेदार और संघर्षजीवी व्यक्तित्व रहे हैं। वे गुजरात में डॉ. मिश्रजी के संघर्ष काल में सहयोगी सैनिक रहे हैं। चाहे फिर वह संघर्ष उन्होंने अहमदाबाद की भूमि पर लड़ा हो या फिर नवसारी की भूमि पर लड़ा हो। मेरे गुरुदेव ने डॉक्टर साहब के बारे में बहुत सारी जानकारियाँ दी, जिसने उनके वैयक्तिक, अध्यापकीय और कलमजीवी व्यक्तित्व को समझने में मेरी बहुत सहायता की।

श्रद्धेय डॉ. मिश्र जी गुजरात में महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, वडोदरा, नवसारी के एस.बी. गार्ड कॉलेज तथा अहमदाबाद के सेंट झेवियर्स कॉलेज से अध्यापक के रूप में जुड़े रहे। गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद में हिन्दी विभाग के खुलने पर साक्षात्कार हुआ, हर तरह से खुद को योग्य साबित किया लेकिन हुआ वही जो नियति ने चाहा। चयनित दोनों प्रत्याशी बराबर-बराबर स्थिति के रहे और गुजरात को हिन्दी के ऐसे शिखर पुरुष को गंवाना पड़ा, जिनकी खोट सदैव अपूरणीय रही है। आज भी हम उनकी कमी महसूस करते हैं। ये घटनाएँ और खेती गई राजनीति उनकी कहानियों में कहीं न कहीं संवेदनशील सर्जक एवं अध्यापक की पीड़ा को प्रतिबिम्बित करती हैं।

मैंने उनके साहित्यिक व्यक्तित्व को समझने के लिए उनके साहित्य को पढ़ना शुरू किया। शुरुआत उनके उपन्यास सूखता हुआ तालाब उपन्यास से की। उसके बाद जल टूटता हुआ, आदिम राग, अपने लोग, आकाश की छत, पानी के प्राचीर आदि उपन्यास तथा

उनकी कहानियाँ और कविताएँ पढ़ी। इस अध्ययन से मैं धीरे-धीरे गुरुदेव को समझने लगा। पानी के प्राचीर में राष्ट्र में व्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के मोहभंग की स्थिति के निरूपण ने मुझे बहुत प्रभावित किया। इस अध्ययन से मुझे मेरे शोध प्रबंध की थीम को समझने में बड़ी मदद मिली।

गुरुदेव भले ही गुजरात छोड़ दिल्ली में बसे हों पर वह एक सुदीर्घ छात्र परंपरा छोड़ गए, जिसमें मैं दूसरी या तीसरी पीढ़ी में आता हूँ। हम सब उनके प्रति श्रद्धावन्त हैं, ऐसी श्रद्धा जो कभी खंडित नहीं हो सकती। प्रोफेसर भोला भाई पटेल, प्रोफेसर रघुवीर भाई चौधरी, प्रोफेसर महावीर सिंह चौहान आदि तो उनके शीर्षस्थ एवं प्रिय विद्यार्थी रहे हैं। इनमें स्वर्गीय भोला भाई तो नेशनल प्रोफेसर एवम बांगला, उड़िया, संस्कृत के प्रकांड पंडित रहे हैं और उनके उपरांत प्रोफेसर रघुवीर चौधरी जी तो पद्म सम्मान तथा अन्य राष्ट्रीय सम्मानों से सम्मानित हैं। डॉ. महावीर सिंह चौहान जी तो कुलपति पद को गौरव भी प्रदान कर चुके हैं।

मुझे भी यह बताते हुए गौरव का अनुभव हो रहा है कि मेरे शोध प्रबंध का उन्होंने परीक्षण किया और मेरी मौखिकी भी लेने के लिए गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद पधारे। मेरा और उनका रात्री निवास मेरे शोध निदेशक के घर पर ही था। जिस दिन मेरी मौखिकी लेना तय था, उस दिन डॉ. साहब की ट्रेन लगभग दस-बारह घंटे देर से पहुंची थी। इसलिए उस दिन तो मौखिकी हुई नहीं। अतः दूसरे दिन मेरी मौखिकी हुई। इस दौरान मुझे गुरुदेव के प्रत्यक्ष दर्शन हुए और मुझे आश्चर्य भी किया कि चिंता मत करो। सब ठीक हो जाएगा। वैसे मैं तो उन सारे क्षणों में श्रोता ही रहा और दोनों मित्रों की बातें और ठहाके सुनता रहा और उन ठहाकों का आनंद लेता रहा।

दूसरे दिन हम विश्वविद्यालय पहुंचे, मौखिकी प्रारम्भ हुई। मैं तो भीतर से तनाव के कारण बैठता ही जा रहा था। इस बात को वे समझ गए और मुझे सहज

करते हुए थोड़ी इधर उधर की बातों के बाद बातचीत शुरू की। मुझे शोध प्रबंध से जुड़े कुछ प्रश्न किए। एक संदर्भ जुड़ने पर 'मैला आंचल' के बारे में ऐसी बातें बताई जिससे मैं अज्ञात था। बाद में गुरुदेव ने मुझे बड़ी प्रसन्नता के साथ फरमाया कि रजनी ! अब तुम डॉक्टर रजनीकान्त हो गए। मौखिकी में तुम सफल हुए हो। मैंने उठ कर उनके चरण स्पर्श किए। मुझे उठाते हुए उन्होंने आशीर्वाद प्रदान किए। मैं भावुकता और प्रसन्नतावश जब रोने लगा तब मेरे निदेशक स्वभावतया मुझे डांटने लगे कि क्यों रो रहे हो? तुम्हें तो खुश होना चाहिए। लेकिन बीच में ही डॉक्टर साहब ने डोर थामते हुए कहा रमाकांत यह दुःखी नहीं है, लेकिन इस उपलब्धि से बड़ा खुश है, इसलिए ये आँसू उसके दुःख के नहीं हैं बल्कि खुशी के आँसू हैं। कितनी सरलता और सहजता इस विद्वान व्यक्तित्व में! आज भी गुजरात से कोई उनका शिष्य दिल्ली जाता है तो उनके दर्शन करने के लिए उनके घर जाता है और अलभ्य आशीर्वाद पाकर खुशी खुशी लौटता है। मुझे खुशी है, कि मुझे ऐसे महान व्यक्तित्व से आशीर्वाद प्राप्त हुए हैं, जिससे मैं अपने जीवन की लड़ाई में हमेशा जीतता रहता हूँ। ऐसे परम गुरुदेव को कोटिश वंदन-वंदन-वंदन ।



रामदरश मिश्र सहजता के शिल्प के अनुगायक

ओम निश्चल

यह प्रसन्नता की बात है कि हाल ही में के. के. बिड़ला फाउंडेशन की ओर से भारतीय भाषाओं के लेखकों को दिया जाने वाला सर्वोच्च सरस्वती सम्मान हिंदी के अप्रतिम कवि, उपन्यासकार, कथाकार, आलोचक, गद्यकार को उनकी कृति 'मैं तो यहां हूँ' पर प्रदान किया गया है। यह गए तीस वर्षों में हरिवंश राय बच्चन और गोविंद मिश्र के बाद तीसरा सम्मान है जिसे रामदरश मिश्र ग्रहण करेंगे। इस पुरस्कार की राशि भले लाखों में है किन्तु इस भौतिक मूल्य से अलग कवि की वाणी अनमोल होती है या कहे कि मूल्यातीत होती है। रामदरश मिश्र को फिर एक बार उनके काव्यावदान पर इस बड़े सम्मान से यह बात पुष्ट हुई है कि भले ही वे अपने प्रारंभिक दौर में 'मैला आंचल' की आंचलिकता के सबसे ज्यादा पैरोकार होते हुए 'जल टूटता हुआ', 'पानी के प्राचीर', 'आकाश की छत', 'अपने लोग' और 'दूसरा घर' के सबसे ज्यादा पढ़े जाने वाले उपन्यासकारों में रहे हों, उन पर सबसे ज्यादा यानी शताधिक शोध-विवेचन उनके उपन्यासों और कथाकृतियों पर ही हुए हों, पर पुरस्कार निर्णायकों को उनका कवि व्यक्तित्व कहीं ज्यादा अभिभूत करने वाला और हिंदी की चिंतन प्रक्रिया और कविता के सौंदर्यबोध को सोचने वाला रहा है। यही वजह है कि दयावती मोदी सम्मान, व्यास सम्मान, साहित्य अकादेमी पुरस्कार और अब सरस्वती सम्मान यानी लगभग सारे बड़े सम्मान उनके कवि की प्रतिष्ठा में दिए गए हैं।

उसकी कविता के सूचकांक का मान-महत्व इसलिए भी है कि ये कविता में शिल्प और उक्तिवैचित्र्य से दूर सदैव एक ऐसे साधक और संवेदनशील कवि के रूप में प्रस्तुत होते रहे हैं जिसके मन में अपनी संवेदना के प्रवाह के लिए भाषा के किसी घटाटोप की आवश्यकता नहीं जान पड़ी। जब जहां जैसी आवश्यकता हुई भाषा का

रूप-स्वरूप बदलता रहा है किन्तु हजारी प्रसाद द्विवेदी के शिष्य होने के नाते पद लालित्य का एक मोह उनके भीतर रहा है। यह पद लालित्य उनके पहले कविता संग्रह 'पथ के गीत' के गीतों में बहुधा दिखाई देता है। उनकी पूरी काव्य रचना में यह प्रोजैक विन्यास नहीं है जो अक्सर हिंदी कविता को अपने वैचारिक प्रभामंडल से आक्रांत किए रहता है। यह सचेतनता उनके कविता संग्रह के शीर्षकों तक में मिलती है-बैरंग बेनाम चिट्ठियां, दिन एक नदी बन गया, पक गई है धूप, कंधे पर सूरज, आम के पत्ते, जुलूस कहां जा रहा है आदि की शीर्षक संरचना में भी उनका यह लालित्य बोलता है।

गीतों के भाव भरे दिन

वे गोरखपुर से उनके बनारस जाने के दिन थे। उस बनारस में जहां एक से एक दिग्गज साहित्यकार थे। हजारी प्रसाद द्विवेदी, अंकुर प्रसाद सिंह, शंभुनाथ सिंह, शिवप्रसाद सिंह, नामवर सिंह, केदारनाथ सिंह, त्रिलोचन। साहित्य का जीता जागता माहौल। इलाहाबाद की साहित्यिक गरिमा को चार चांद लगाने के लिए निराला, महादेवी वर्मा और पंत जैसे अप्रतिम युगपत प्रवाह वाले कवियों का वैभव है तो काशी में प्रेमचंद और प्रसाद के बाद नई पीढ़ी अदब में एक जगह बना रही थी। त्रिलोचन, केदारनाथ सिंह, शंभुनाथ सिंह और ठाकुर प्रसाद सिंह जैसे कवि कविता को नई भाषा और संवेदना से भर रहे थे। गोष्ठियां कवि चेतना में उन्माद सी पैदा करती थीं। रामदरश मिश्र जैसे कवि के भीतर कविता, गीत और छंद के प्रति अनुराग उन्हीं दिनों पैदा हुआ। साहित्यिक संघ की गोष्ठियों की याद वे अभी भी करते हैं जिसका संचालन सूत्र ठाकुर प्रसाद सिंह के हाथ हुआ करता था जो भांति भांति के साहित्यकारों के बिना एक योजक चिह्न की तरह हुआ करते थे। अत्यंत प्रत्युत्पन्नमति संचालक। वे रामदरश मिश्र के समयवास थे। उतने ही हँसमुख उतने ही उदार और इतिहास के होकर भी साहित्य की हर विधा में गति

रखने वाले। उनके सान्निध्य को रामदरश जी आज तक नहीं भूले हैं बल्कि स्मृतियों के छंद में उन पर जो संस्मरण टाँका है, उसे पढ़ कर तो आंखें भर आती हैं। ऐसे साहित्यकारों को हमने विस्मृति के नेपथ्य में डाल रखा है। कभी कभार कोई कृष्ण बिहारी मिश्र (कोलकाता) और विश्वनाथ प्रसाद तिवारी (गोरखपुर) जैसा सहृदय उन्हें याद कर लेता है।

यही वह समय था जब एक तरफ त्रिलोचन 'धरती' के गीत लिख रहे थे तो दूसरी तरफ रामदरश मिश्र 'पथ के गीत' लिख कर साहित्य का आंगन बुहार रहे थे। तब इलाहाबाद, बनारस, लखनऊ, पटना और मुजफ्फरपुर जैसे शहर ही साहित्य का केंद्र थे। इन्हीं शहरों में हिंदी की गतिविधियां और आंदोलन सांस लेते थे। इलाहाबाद परिमलियों का अड्डा था, कविता, कथा, उपन्यास, गीत और आलोचना हर विधा के एक से एक दिग्गज विद्यमान थे तो धर्मवीर भारती के मुंबई पहुंचने और धर्मयुग का संपादन संभालने के साथ ही देश में साहित्य के प्रति समाज में एक सहज आकर्षण पनपा और ऐसी पत्रिकाएं घर के झुंडंगरूम का हिस्सा बन गयीं। हिंदी में गीत को प्रतिष्ठा ऐसी ही पत्रिकाओं ने दी। गीतों ने जन नए गीत का प्रस्थानबिंदु तलाशना शुरू किया तो इस नवता का एक बड़ा उपक्रम पांच जोड़ बांसुरी था जो चंद्रदेव सिंह के सुधी संपादन में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुआ। रामदरश मिश्र के गीत इस संकलन में भी शामिल हुए।

ऋतुओं का वैभव

उनके गीत पढ़ने-गुनगुनाने के लिए पलटता हूँ तो पाता हूँ गीत की भागीरथी जैसे हमारे बहुत पास से होकर बहती हैं। शुरुआत उन्होंने भले ही अपने गीत संग्रह पथ के गीत से किया पर दिन एक नदी बन गया से लेकर अब तक के सारे कविता संग्रह दिल्ली में रहते ही तैयार हुए और प्रकाशित हुए। सभी संग्रहों में कुछ गीत अवश्य शामिल होते रहे और इस तरह कहानी उपन्यास, आलोचना, संस्मरण, आत्मकथा के साथ गीत की गंगा भी बहती रही। यों गीतकार का मन बहुत भावुक होता है, उसकी संवेदना की जमीन बहुत नम होती है। गीतों में कवि के निज की पहचान जरा सहज होती है। वह झीने झीने विन्यास में अपना सुख दुख उड़ेलता चलता है। कभी लिखा होगा उन्होंने-क्षितिज की धूसर डगर पर एक जीवन

चल रहा है। १९४६ में लिखे इस गीत में उनकी संवेदना भी ठिठकी हुई मिलती है। कुदरत के बीच पला बढ़ा यह कवि कभी बादल तो कभी नदी कभी बसंत कभी शरद कभी फागुन के गीत गाता हुआ मिलता है तो कभी जीवन के यथार्थ से उपजी कविताएं लिखता हुआ। उसे सरसों के फूल आकर्षित करते हैं तो वह बादल बन कर मनुहार भी करता है--

मैं अषाढ़ का पहला बादल
मेरी राह न बाँधो

फागुन, शरद, चैत और अन्य सभी ऋतुओं पर उनकी कितनी ही कविताएं हैं। बसंत और फागुन पर ही सैकड़ों कविताएं होंगी। उतनी ही प्रभूत संख्या में गीत भी लिखे हैं। फागुन की रात, फागुन की प्रात, फागुन के दिन सब उल्लास की संवेदना से भर देते हैं। फागुन और पलाश के कितने ही सलोनो बिम्ब उनके गीतों में मिलते हैं। बादल बरस कर गुजर रहे हैं तो उन्हें लगता है जैसे थके हुए राही लौट रहे हो। चैत के दिन बहुत उन्मन कर देने वाले होते हैं जैसे कभी ऐसे ही उन्मन दिनों में केदारनाथ सिंह ने यह गीत लिखा था गिरने लगे नीम के पत्ते। झरने लगी उदासी मन की। ऐसे उन्मन चैत पर रामदरश जी का गीत कितना मनभावन बन पड़ा है--

सोने की फसलों में झूल रही
बजती-सी सोने की बालियां
गहक रही गेहूँ के गालों में
बाहों की झुमकी कुदालियां
लटक रहे हँसुओं के अमलतास
गोरी गोरी बाँहों की डालियां
लपक लपक हँसुओं की होड़ की
पछुए ने गीतों को बहकाया है।
चैत आया है, चैत आया है।

(मेरी गीत यात्रा, पृष्ठ ५९)

कभी 'पाँच जोड़ बांसुरी' लिख कर गीतों की आत्मा में ठाकुर प्रसाद सिंह ने प्राण भर दिए थे। वह बांसुरी उस समय के गीतकारों का एक अदभुत आलंबन था। शतदल ने एक गीत में लिखा था, 'गंध ने प्यार से छू लिया क्या इन्हें/ये अधर इस जनम तो हुए बांसुरी।' किसी ने लिखा मैं तो प्रिय बांसुरी तुम्हारी। कृष्ण की बांसुरी सी मीठी धुन जैसे गीतों की सुधर काया में बस गयी हो। गीत तो आज भी किसी कान्हा की बांसुरी की टेर-से

लगने लगते हैं। ऐसे में रामदरश मिश्र ने १९५४ में एक गीत लिखा था- बार बार बांसुरी बजाओ न पिया। लहरों के पार से बुलाओ न पिया। कितनी मीठी बंदिश कितना मीठा सुर इस गीत का पहला व आखिरी अंतरा है :

गाते हो कि मेरा मन है गमगमा रहा
लगता है जैसे कुछ प्राण में समा रहा
सपनों से मन को गुहराओ न पिया।

अपनी दुनिया में मैं मस्त हूँ जवान हूँ
फागुन की गेहूँ हूँ सावन की धान हूँ
विरहा की जोगिनी बनाओ न पिया।

गीत: राग की बंदिश

जाने अनजाने उनके गीतों में किसी राग की बंदिश-सा चुंबकीय आकर्षण है। न माने बादरवा बरसे। ऐसी ही मीठी बंदिश है। किसी संगीतकार के साज और गायक के होठों को छू जाए तो गीत में चार चांद लग जाए। उनके गीतों में प्रकृति का एक एक क्षण जीवंत हो उठता है। हवा हौले से आई और कमरे में कंपन सा भर गया। हवा बहने लगी तो लगा बाद का हृदय दरक गया, महए के फूल झर गए तो लगता बसंत के जाने के दिन आ गए। धूप आंगन में उतरी तो लगा धूप के धान से आंगन भर गया। कभी धूप चिड़ियों की मानिंद लगती है किरन का तिनका चोंच में दबाए। नीम की मंजरी झरी तो जैसे लोहे के द्वार कांप उठे। एक निमिष में समय सिमट गया। भोर की किरन आंगन में ऐसे उतरी है जैसे कुलांचे भरती हुई कोई भटकती हुई हिरनी आ ठिठकी हो। कभी केदार जी ने लिखा था: गिरने लगे नीम के पत्ते। झरने लगी उदासी मन की। ऐसे उन्मन बिम्ब कोई सच्चा कवि ही आंक सकता है। ऐसे उन्मन दिनों को याद करते हुए रामदरश जी देखिए क्या कहते हैं:-

रच रेती पर चित्र पवन से
चले गए थे दिन उन्मन से।

रामदरश जी का गांव का घर नदियों के निकट रहा है। लिहाजा उन्होंने नदियों की हाहाकारी बाढ़ भी देखी है तथा सूखती तन्वंगी नदियों की कराह और आह भी सुनी हैं। धीरे धीरे नदियों पर बांध बनते गए। नदियां सूखती गयीं। ऐसे में उनका गाता हुआ मन भी एक आह और कराह से भर उठा। दिनों दिने खत्म होते जल और नदियों के सूखते जाने को लेकर उनका कवि मन गा उठा-

छोड़ हमें प्यासा का प्यासा
नदियां कहां चली जाती हैं?

अगर इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में दुष्यंत कुमार याद आ जाएं तो कोई क्या करे-

यहां तक आते आते सूख जाती है कई नदियाँ
हमें मालूम है पानी कहां ठहरा हुआ होगा।

यों तो सारे मौसम भारत के अनूठे हैं पर कभी दोपहरी नहीं बीतती कभी सर्दी के दिन खत्म नहीं होते। सब कुछ एक्सट्रीम पर होता है यहां। पर इन्हीं मौसमों से मन परिचालित होता है। कहा है नीरज ने - मन तो मौसम सा चंचल है। मन की चंचलता मौसमों की दरियादिली पर निर्भर होता है। कवि सूनेपन को भी अपने गीतों से गुंजाण कर देता है। वह आमंत्रण देता चलता है-पथ सूना है तुम हो हम हैं, आओ बात करें। यह १९९९ का गीत है। कवि अपनी उत्तरशती की परिधि में पहुंचते पहुंचते कुछ कुछ दार्शनिक होता जाता है। जीवन के दिन बीत रहे होते हैं उम्र घट रही होती है। ऐसे में जैसे कैलाश वाजपेयी ने कहा है : भविष्य घट रहा है। यह घटता हुआ भविष्य, ये बीतते कि रीतते हुए दिन। कवि के शब्दों में जैसे उत्तर जीवन का विषाद उत्तर आया है।

कहते सुनते सुनते कहते दिन कट जाएंगे
हँसी हँसी से, आंसू से आंसू बंट जाएंगे
साथ सफर की घड़ियां कम हैं, आओ बात करें।

हम थे उदासिया थीं खामोश गुलमोहर था हम दर्द भी न गाते तो क्या बयान करते-कवि रामावतार त्यागी ने कहा है। उदासियों के रंग भी उनके यहां हैं पर नई भोर की आहट भी उन्हें सुन पड़ती है। ये एक गीत में कहते हैं, "कविता बोली-मत उदास हो, कल फिर सुबह नई होगी। उनका आशावाद नैराश्य के बीच भी कभी मंद नहीं पड़ता-

टूटे तारों से हिलते हैं यहां वहां रिश्ते नाते
शब्द ठहर जाते सहसा, इक दूजे में आते जाते।
फिर भी जाने क्यों लगता-कल धरती छंदमयी होगी।

छंदमयी धरती का स्वप्न देखने वाला यह ९८ साल वर्ष का यह कवि आगामी १५ अगस्त, २०२२ को ९९वें साल में प्रवेश करेगा। यह उसकी जन्मशती की शुरुआत भी होगी। एक शती की जीवन यात्रा और शताब्दी-भर के रचनात्मक समय को अपनी छाती से लगाए जैसे उसकी धड़कनों को बहुत पास से सुन रहा हो। उसके

आगे दो दो विश्वयुद्ध गुजरे। गयी सदी के अनेक ऐतिहासिक पल गुजरे हैं। उसने आपातकाल देखा है, समय को सांप्रदायिक होते हुए देखा है। राजनीति के कोलाहल में बौद्धिकों की घटती हैसियत देखी है वरना एक वह भी समय था जब निराला या फिराक नेहरू जैसे राजनेता से बात कर सकते थे। सभाओं में दिनकर जैसे कवियों को देख कर नेहरू पास आकर अभिवादन करते थे। २४ जनवरी, २०२० यानी दो साल पहले आई गीतों की पुस्तक 'मेरी गीत यात्रा' (हंस प्रकाशन, दिल्ली) देते हुए वे कहने लगे, ओम जी, यह संग्रह आपके लिए क्योंकि आप मेरे गीतों को इतना प्यार करते हैं, पर आपका एक प्रिय गीत इस संकलन में नहीं है। मैंने पूछा कौन सा? उन्होंने कहा वही- 'एक एक जा रहे सभी मन बड़ा अकेला लगता है।' सचमुच हृदय के पोर पोर से निकले इस गीत का कहना ही क्या।

सच कहूँ तो रामदरश जी के कवि का मूल्य आंकता हूँ-तो इन गीतों के अवदान को अलग नहीं कर पाता। जैसे त्रिलोचन के कवि के घनत्व में उनके सानेटों की विशद भावभूमि का योगदान है कि ये महाकवि का दर्जा पा लेते हैं, वैसे ही जिसे ठहर कर चित्त के भीतर प्रवेश करने की कलाका सवाल है, रामदरश मिश्र के गीत यह काम बखूबी करते रहे हैं। वे खुद भले ही इतने अच्छे सुर में न गाते हो या मंच पर गाकर न पढ़ते रहे हो पर छंद का यह अचूक बोध उन्होंने अपनी कवि परंपरा से पाया है। उस दौर कोई भी बड़ा से बड़ा कवि यानी छायावाद के बाद के कवियों में भी अज्ञेय, नागार्जुन, त्रिलोचन, शंभुनाथ सिंह, भवानी प्रसाद मिश्र, गिरिजाकुमार माथुर, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती, यहां तक कि नरेश सक्सेना और कुंवर नारायण तक छंद का यह बोध कवियों को भीतर और बाहर से भरता रहा है। मैं खुद नई कविता के पठन पाठन का अभ्यासी होता हुआ भी जहां मुझे गीत में कोई नई नकोर बात मिली, वह चित्त को अपने सम्मोहनों में बांध लेती है। इसीलिए कविता की मुख्य धारा से छिटके कवियों-निरज, रमानाथ अवस्थी, भारत भूषण, रमेश रंजक, छविनाथ मिश्र के गीतों ने भी जनसमुदाय को कविता से जोड़ने में एक पुल का काम किया है यह कहने में हिचक नहीं।

कविता के वरिष्ठ नागरिक

सच्चा कवि किसी एक सांचे या पैटर्न में बंधा नहीं रहता। वह अभिव्यक्ति के तमाम खतरे उठाता हुआ

प्रयोगों से टकराता है तथा प्रचलित काव्यास्वाद से अलग पैटर्न की कविताएं भी लिखता है। वह अपनी तरह के काव्य का उद्गाता होता है, किसी के अनुगमन से निर्मित राह उसकी नहीं होती। बकौल शकेब जलाली: हम उससे बच के चलते हैं जो रस्ता आम हो जाए। रामदरश जी ने यही किया है। वे गीतों के रास्ते कविता में आए। अरसे तक छंद कविता का साधन और साध्य बना रहा पर जब पूरे विश्व में आधुनिकतावाद की हवा चली तो साहित्यिक विधाओं के विन्यास और शैलियों में भी विविधता आई। हिंदी का पूरा काव्य विन्यास प्रथमतः छंदों वाला ही रहा है। मात्रिक, वर्णिक, कवित्त, दोहे, चौपाई, बरवै तथा गीत और प्रगीत हर शैली में हिंदी में काव्यरचना की गयी है और हमारी कवि परंपरा के बड़े हस्ताक्षर इन सभी शैलियों के उस्ताद कवि रहे हैं।

रामदरश जी ने प्रथमतः गीतों की राह अपनाई। गीत प्रगीत में प्रभूत काव्य रचना की। लेकिन बनारस में बह रही आधुनिकतावाद की हवा ने उन्हें संभवतः समय रहते चेता दिया था कि यदि भविष्य में काव्य रचना में टिके रहना है तो आधुनिकतावाद की प्रवृत्तियों को कविता में उतारना होगा और उस शैली में काव्य रचना करनी होगी जिस शैली में पूरे विश्व के कवि लिख रहे हैं। १९५१ में पथ के गीत संग्रह आने के बाद अनेक नए कवियों के सांनिध्य के कारण वे नई कविता से जुड़े और सातवें दशक में उनके दो महत्वपूर्ण संग्रह आए-बैरंग बेनाम चिट्टियां (१९६२) और पक गई हैं धूप (१९६९)। इन संग्रहों से उनकी पहचान बनी। वह दौर बैरंग चिट्टियों के चलन का था जिनके अनकहे दर्द को लेकर डाकिया दर दर फिरता था। इन बेनाम चिट्टियों के हवाले से एक अनाम दर्द को जीने की चाहत लिए हुए यह कविता पीड़ा का एक अनकहा रूपक बन कर सामने आई। ये अपने आत्म को खोलने और उसे चीन्हने के दिन थे। कुछ बनने के दिन थे। पर सुनसान और तन्हाई तो कवि के सच्चेसंगी होते हैं। बंद कर लो द्वार ऐसी ही तन्हाई की कविता है जो उन्होंने उस दौर (१९५५) में लिखी कविता की भाषा छायावादी रुख तज कर नए विन्यास में बदल रही थी :

यह घिरा सुनसान कमरा है
जहां मेरी रोज़ की टूटी, जमीं ये धड़कने
फूलों-धुली हर सॉस पर आ लेट जाती
जहां कोनों में लगे जाले
थकी मांदा दरारें

(बैरंग बेनाम चिट्ठियां/बंद कर लो द्वार)

ऐसा नहीं कि नई कविता से जुड़ जाने पर गीत लिखना बंद हो गया, वह लिखा जाता रहा। उत्तरवर्ती संग्रहों में उनके कुछ गीत छन छन कर आते रहे और जी को जुड़ा जाते रहे। वे शामें उल्लास की नहीं धुमैले रंगों वाली शाम थी जिनमें कवि का कसैला मन खुल कर अपनी बात कहता। वे वे दिन और ये दिन कह कर तुलना भी करते और उन दिनों को परीक्षा के प्रश्नपत्र की तरह पाते। यह एक विरल उपमान होता। बसंत आता और जाता रहा। कविताएं कभी बसंत में भीग उठती कभी स्थितप्रज्ञ हो आत्मनिरीक्षण करती। उनकी खानाबदोश अनुभूतियां भी रह रह कर प्रकट होती रहीं : 'भटक रहा खानाबदोश सा/आज यहां कल वहां छोड़ जानी पहचानी हुई बस्तियां।' इस संग्रह में उनके कुछ बड़े प्यारे गीत भी हैं। पके धान सी धूप, जलते हैं फूल, खिड़की से एक हवा आई, कोई दर्पण टूटा होगा, एक नीम मंजरी, यह दिन भी बीत गया। बादल घेर घेर मत बरस, आदि। बैरंग बेनाम चिट्ठियां में निज के अनुभव का विस्तार मिलता है तो 'पक गई है धूप' में कवि निज के दुख दर्द के घेरे को तनिक तोड़ता है। रामदरश जी ने नई कविता की राह जरूर अपनाई पर अपने बोध में उनका गंवई मन जन जन के दुख दर्द के ज्यादा निकट रहा - कविता केवल निज के आख्यान का माध्यम नहीं बनी। गलियां और सड़कें, कहां हैं समाज, सुखी लोग, दिशाएं बंद हैं, पूछती आवाज कोई जैसी कविताएं भी सामने आईं। इस संग्रह में मेरा आकाश, समय देवता, फिर वही लोग और गाड़ी जा रही है जैसी लंबी कविताएं भी हैं। 'फिर वही लोग' में तत्कालीन राजनीतिक समय बोलता हुआ दिखता है। कंधे पर सूरज में आजादी की पचीस साला फलश्रुति बोलती है। 'गठरी' इस रूपक को अपने भीतर समेटे हुए हैं।

समय साठोत्तर और रामदरश मिश्र

कविता का यह साठोत्तर समय था, जब कवि भी अपने अपने समकालीनों रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, त्रिलोचन, शमशेर और नागार्जुन की तरह आजादी के परिणामों पर आत्ममंथन कर रहा था। 'लौट आया हूँ मेरे देश' में उनका यह कहना कि सिर्फ कागज गोंजता हूँ और अस्वीकार करता हूँ/ और जब जब मैं अपने से प्रश्न करता हूँ/ तब-तब लौट आता हूँ तुम्हारे पास मेरे देश। अकविता का दौर उनके सामने से

होकर गुजरा पर वे इस आंदोलन से जरा दूर-दूर ही रहे और अपनी कविता को अराजक होने से बचाये रहे। कविता में आयातित तल्खी के ये विरोधी थे। पर सांस्कृतिक एकता जैसी कविता दिल्ली की बेदिली को खोल कर रख देती है: यह दिल्ली है/यहां भी रास्ता काट जाती एक बिल्ली है। यहां भी पत्रा देख कर जनवादी घोषणाओं की शुरुआत होती है। (सांस्कृतिक एकता) 'चिट्ठियाघर' कविता तो विरल विडंबनाओं की ओर दृष्टिपात करने वाली कविता है जहां प्राणि प्रजातियां जैसे प्रायोजित मनोरंजन के लिए ही बनी हो। दिन एक नदी बन गया-छोटी और मंझोली कविताओं का संग्रह है। छोटी किन्तु शार्प कविताएं जिनका संप्रेषण अचूक है। उदाहरणतः

हमेशा आकाश से झरती है एकनदी/और हमेशा ऊपर ही ऊपर कोई पी लेता है

धरती प्यासी की प्यासी रहती है / और कहने को आकाश से नदी बहती है। (नदी बहती है)

हर चौराहे पर / दुर्घटनाग्रस्त होकर तड़प रहा है एक देश और हम / डाक्टर के बदले / पुलिस का इंतजार कर रहे हैं। (इंतजार)

डाक्टर हड़ताल पर हैं।

और पुलिस ड्यूटी पर

देखिए, इस अस्पताल का क्या होता है! (अस्पताल)

जुलूस कहां जा रहा है उत्तर आपातकाल संग्रह है। आठवें दशक की कविता के सौंदर्यबोध को छूता छेड़ता हुआ। कविता का जन्म से शुरू यह संग्रह 'हम पूरब से आए हैं' पर खत्म होता है। क्या यह पुरबिहापन केदार नाथ सिंह के पुरबिहापन से अभिन्न नहीं है जिसे उन्होंने सृष्टि का पहरा में एक खूबसूरत कविता में व्यक्त किया। केदार जी और रामदरश मिश्र की पैदाइश का भूगोल और भाषाई मिजाज लगभग एक सा है। केदार जी गांव देहात के अनुभवों और विजुअल्स को बिम्बों में बदल कर कहते हैं रामदरश जी उसे अनुभव की भाषा में ढाल कर कहते हैं। आठवां दशक चूंकि प्रतीकों का था, बच्चे, चिट्ठिया, तानाशाह, जुलूस, पत्थर, पेड़, फूल, हाथ, वे, नदी के प्रतीकों के माध्यम से अपने समय के राजनीतिक बोध को व्यक्त किया जा रहा था। यही यह दौर था जब राजेश जोशी लिख रहे थे एक दिन बोलेंगे पेड़ और ज्ञानेन्द्रपति

कह रहे थे- पेड़ हैं इस पृथ्वी के प्रथम नागरिक। लीलाधर जगूड़ी कह रहे थे हर हरियाली के हम अंतिम परिणाम हैं/ हम जलेंगे तो धरती दूर से ही दिखाई देगी काली और उपजाऊ। लिहाजा इस समय की रामदरश जी की कुछ कविताएं प्रतीकों से काम लेती जान पड़ती हैं। 'चिड़िया' कविता में उसका यह सोचना कि आज जंगल में कोई आदमी आया था क्या?; 'चिड़ियां' कविता में चिड़ियों का ऐसा मानवीकरण हो उठा है तभी तो ये जैसे जैविक इकाइयों की तरह एक से सुख दुख से पीड़ित हैं कि कह उठती हैं कि 'क्या हम भी लेटरबाक्स की चिड़ियां हो गए हैं? बीच बीच में जैसे गीतों में स्थायी की एक टोक आती है, वे बार बार लय की ओर लौटते हैं। घर यों तो बार बार उनकी कविताओं में आता है। बारिश में भीगते बच्चे-संग्रह की घर कविता धीरे-धीरे बनते घर का एक रूपक ही है। वे अपने को घर घुसरा आदमी भी मानते हैं। फिर भी ध्यान से देखिए तो हर व्यक्ति अपने जीवन में विस्थापनों का मारा है। वे सौभाग्यशाली हैं जिनका घर नहीं छूटा, खेत बारी नहीं छूटती, नाते रिश्तेदार नहीं छूटते। कवि का गोरखपुर छूटा, बनारस छूटा, गुजरात से आत्मीयता बढ़ी तो गुजरात छूटा, दिल्ली आए तो यहीं के होकर रह गये। इसी बाजार का हिस्सा होकर, इसी की रूह और अस्थिमज्जा में अपनी पहचान संजोते हुए। रह रह कर गांव याद आता रहा। आज भी वह गांव कवि की स्मृति में जिंदा है। लेकिन व्यक्ति कहीं भी हो आखिर घर लौटने की इच्छा भी जैसे स्मृतियों में लौटने की ही इच्छा है। दिन डूबा अब घर जाएंगे इसी इच्छा की प्रतिश्रुति है। 'लड़की' इस संग्रह की रुला देने वाली कविता है। आग कुछ नहीं बोलती संग्रह में भी लड़की सीरीज की कई कविताएं हैं जहां वे खुल कर कहते हैं - लड़का बड़ा हो रहा है। लड़की बड़ी हो रही है/लड़का धीरे धीरे घर खाली कर रहा है। लड़की धीरे धीरे घर भर रही है (लड़की-२)। यह सीरीज आगे बढ़ते हुए सातवीं कड़ी तक पहुंचती है तो कवि जैसे चीख से भर उठता है -

लड़की फिर जाएगी वहीं

जहां से लौटी थी/लड़ेगी अजगरों से, भेड़ियों से, चीतों से लड़ते लड़ते उनके मुंह में चली जाएगी

या बची रहेगी

मां सास और दादी बनने के लिए

वह अपने को देते देते अपने लिए रीत जाएगी
और जिन्दगी यो ही बीत जाएगी।

(आग कुछ नहीं बोलती /लड़की-७)

यह लड़की लड़कों से भरे पूरे परिवार का कवि कह रहा है। इसे स्त्री विमर्श के चाकचिक्य में कोई और अंदाजेबयां दे सकते हैं पर ये पंक्तियां पूरे समाज पर एक चाबुक की तरह बरसती हैं। तभी तो ऋतुराज ने 'कन्यादान' कविता में लिखा है माँ ने कहा लड़की होना पर लड़की जैसी दिखाई मत देना। एक सपना लिए लड़की ससुराल जाती है पर यह तो लोभ और नफरत का चक्रव्यूह है, ससुराल कैसी। वह संकट में किसे भला पुकारेगी। चीख भी नहीं पाएगी। वे इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि 'अब ससुराल के लिए लड़की को शिक्षा नहीं, तिजोरी चाहिए। वहां प्यार नहीं, पैसे हँसते हैं/ सौदागर बसते हैं।' यहां कविता का तत्व भले प्रगाढ़ नहीं, पर कवि चिंता प्रबल और संवेदी है। वे सरोकार है जो यह कहने में हिचकते नहीं-

तुम्हारे हाथ में

उनके लिए ईंट है, लोहा है, सीमेंट है, गारा है

उनके हाथ में तुम्हारे लिए उठा हुआ खूबसूरत नारा है

हम हाथ में लेखनी लिए

कभी तुम्हें देखते हैं, कभी उन्हें

और तुम धीरे-धीरे

हमारी लेखनी में समाते जा रहे हो।

(जुलूस कहां जा रहा है/हाथ)

रामदरश मिश्र की कविताओं में विश्वबंधुता है, वंचितों, यतीमों के लिए आत्मीयता है, विराट का स्पंदन है, जीवन के एक एक पल को जीने की चाहत है। इसीलिए उनकी तमाम कविताएं जो एकरैखिक हैं, ये भी क्षणों को जैसे मन से जीने का उपक्रम हैं। वे एक काँध, एक पुलक, एक बिम्ब से भी कविता रच लेते हैं इसलिए कभी कभी यह जरूर लगता है कि इस कविता में आखिर क्या है जो इसे कविता बनाती है तो यह कहना होगा कि वह पुलक, वह काँध, यह सुख, यह विषाद, वह विडंबना, वह विपर्यय बोध, कोई न कोई सवाल, प्रश्नाकुलता उनकी हर कविता के बनने के पीछे के कारक हैं- और यह भी कि ये ख़ाँटी गृहस्थ कवि है यह कहने में गर्व का अनुभव करते हुए कि 'हम पूरब से आए हैं।'

आग कुछ नहीं बोलती में आग फिर एक प्रतीक की तरह बोलती हुई दिखती है। पेड़ों को वे देखते हुए कहते हैं, तुम क्या कभी इन पेड़ों को देखते हो / यह सब देखते हुए /लगता है, जब तक इन्हें देखता रहूंगा, मेरी कविता बची रहेगी। (पेड़) इस संग्रह की लड़की सीरीज की कविताओं पर बात हो चुकी है उस बढ़ते अकेलेपन की बात भी कवि करता है जब वह अपने बीच से एक-एक कर लोगों को जाते देखता है। रामदरश जी ९९ में जाने वाले हैं। अब तक कितने संगी साथ छूट गए। गए दो दशकों से छूटते ही रहे हैं। तभी तो कवि से कहे बिना न रहा गया- एक एक जा रहे सभी मन बड़ा अकेला लगता है। बोलता हुआ गीत, कचोटती हुई कविता। उनके अनेक संग्रह में प्रकृति के लिए, फूल के लिए, वसंत के लिए अनेक कविताएं हैं, बसंताभास, और बसंत पर आठ कविताएं यहां शामिल हैं, ग्रीष्म, शरद, हेमंत, शिशिर, पावस के लिए तो हैं ही तमाम संग्रहों में यत्र तत्र। पावस ऋतु पर कविता-चयन हो तो एक अलग संग्रह ही बन जाए। सावन-भादों यों भी कवियों का मन भिगोता ही रहता है। पर मिश्र जी का मन तो जैसे इस कविता में केदार (केदारनाथ अग्रवाल) हुआ जाता है जो कहा करते थे-फूल नहीं, रंग बोलते हैं। वे कहते हैं-

अजिर में शिशु-से नया रस घोलते हैं
ये अबोले फूल कितना बोलते हैं।
सुबह आखों में इन्हें भर जागता हूँ
पास जा इनके खुला दिन मांगता हूँ
मुस्कराते हुए पलकें खोलते हैं।

(आग कुछ नहीं बोलती)

बारिश में गांव और शहर का बिम्ब बहुत अलग होता है, वह प्रतीति भी अलग होती है। बारिश देखकर जो प्रतीति किसान के मन में होगी वह किसी शहरी के मन में नहीं। बारिश में पगा कवि मन "बारिश में भीगते बच्चे" तक आकर फिर जैसे अपना भीगता हुआ बचपन जी लेता है। कविता भी कभी कभी उस शिशुता की तलाश है जो कवि के भीतर कुलांचे भरता रहता है। याद है मुझे दिल्ली के उत्तम नगर में एक बार पंडित विद्यानिवास मिश्र का आना हुआ, उनकी अध्यक्षता में इस संग्रह पर गोष्ठी भी हुई। मैंने एक पर्चा पढ़ा। विद्यानिवास जी का लालित्य टोही मन उजाड़ में भी बसंत की खोज कर लेता है। वे बोले और बहुत प्रीतिकर बोले। इसी के आस पास मिश्र जी को जब दयावती मोदी पुरस्कार मिला तो लगा कि

विद्यानिवास जी का कवि मन कैसे मिश्र जी की इन कविताओं पर रीझ उठा होगा। इस संग्रह में शामिल कविता घर जल रहा है पढ़ कर मुझे राजीव सक्सेना की मेरा घर जल रहा है पुस्तिका की याद हो आई। मिश्र जी की कविता घाटी में जलते स्वर्ग की कविता है। वे रह रह कर उन विडंबनाओं की ओर दृष्टिपात करते हैं जिन्हें हम अक्सर दृष्टि से ओझल करते आए हैं। यह किसका घर है- हिंदू मुसलमान ईसाई करते इस संकीर्ण समाज में भटकता हुआ एक कवि ही यह कह सकता है- "कहां गया यह घर/ जिसमें एक आदमी रहता था?"

एक दौर उनके कवि जीवन में गजलों का भी आया। हँसी ओठ पर आंखें नम हैं, बाजार को निकले हैं लोग, तू ही बता ऐ जिन्दगी, सपना सदा पलता रहा, और दो मुक्तकों के संग्रह धूप के टुकड़े और लमहे बोलते हैं- उनकी बहुविध काव्यात्मक अभिव्यक्तियों का ही प्रतिफलन है। हम उनकी गजलों को उनके काव्यावदान में कम नहीं आंक सकते। उनकी ही गजल का यह शेर जैसे उनके कवि जीवन के आत्मसंघर्ष का पर्याय बन गया जहां आप पहुंचे छलांगे लगा कर / यहां मैं भी पहुंचा मगर धीरे धीरे। संयोग ही है कि उन्हें बहुतेरे बड़े पुरस्कार देर से मिले। जब कथा साहित्य की ऊँचाइयों पर थे, तब दृष्टि से ओझल रहे। जब फोकस में आए, दिल्ली में रमे जमे तो कविता संग्रह लगातार आते रहे। लिहाजा सारे बड़े पुरस्कार कविता पर ही मिले। व्यास सम्मान, दयावती मोदी, कवि शेखर सम्मान, साहित्य अकादेमी पुरस्कार और अब सरस्वती सम्मान उनके काव्यावदान के प्रति ये पुरस्कार और सम्मान एक प्रमाणन की तरह है कि रामदरश मिश्र अपने समय के विशिष्ट कथाकार होते हुए भी अंततः एक कवि है। गजलों मुक्तकों के उनके अपने पाठक हैं। यह जान कर भी कि मुख्य धारा की कविता और आलोचना गीतों गजल मुक्तकों से जरा दूर ही रहती है, उन्होंने इन शैलियों का साथ नहीं छोड़ा कि शायद इससे ही उनके कवि-मन को विश्रांति मिलती है।

भूमंडलीकृत समय और कविताएं

नब्बे के आसपास विश्व ग्लोबल हो रहा था। सीमाएं टूट रही थी। विश्व बाजार अपनी गतिमयता तेज कर रहा था। देश में भूमंडलीकरण का वातावरण था। ऐसे दौर में उनकी कई रचनाएं आती रही। खास कर कविता के क्षेत्र में जुलूस कहां जा रहा है, बारिश में भीगते बच्चे,

ऐसे में जब कभी, कई छोटे उपन्यास, कहानी संग्रह, ललित निबंध संग्रह संस्मरण, आत्मकथा के कई उत्तरवर्ती खंड इसी दौर में आए।

सन् २००१ के आस पास उनकी कविता फिर एक करवट लेती है। 'आम के पत्ते' के प्रकाशन के साथ उनकी कविता एक नया दौर शुरू होता है। इस संग्रह पर ही २०११ में उन्हें व्यास सम्मान मिला। यहीं से एक सांस्कृतिक समझ उनकी कविताओं में रूपाकार लेने लगती है। मेरे मकान में एक आंगन भी है-कविता पढ़ते हुए उनकी यह बात मुझे अक्सर याद आती है जब एक इंटरव्यू में उन्होंने आज से कोई पचीस साल पहले कहा था मैंने अपने आंगन में कच्ची जमीन छोड़ रखी है। यह जमीन से जुड़े एक कवि का बयान है। आम के पत्ते का इसी रूप में स्वागत हुआ पल्लव सरीखा। पथ सूना है तुम हो हम हैं आओ बात करें जैसा संवेदनशील गीत इसी संग्रह में है। पिता तुम्हारी आंखों में जैसी कविता पितृ छाया को हमारी स्मृति में सघन करती है। उनकी कविताओं में धीरे धीरे तमाम निर्जीव वस्तुएं अपना नया कथ्य गढ़ रही थीं- मेज, कलम, चमचा, सुई, चाकू, पंखा, कुर्सियां, झाड़ू, माइक उनकी कविताओं में जगह बना रहे थे। कभी कभी इन दिनों- संग्रह की पोस्टकार्ड, ढोलची, आईना, अखबार आदि कविताएं भी निर्जीवता को सजीवता में देखने की कोशिश दिखती है। पर जब इतने सारे संग्रह हो तो हर संग्रह की हर कविता ध्यान में नहीं आती। हाँ, उनके गीत ध्यान खींचते हैं। कल फिर नई सुबह होगी और आभारी हूँ बहुत दोस्तो ऐसे ही गीत हैं। आग की हँसी पर २०१५ में उन्हें ९२ की वय में साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला। आग की हँसी में एक कविता है अब नहीं आती चिट्ठियां पढ़ कर लगा कि हमें तो पता ही नहीं कि दुनिया इस बीच कितनी बदल गयी है। संचार इंटरनेट और संप्रेषण में आमूल परिवर्तन आ चुका है और यह नई दुनिया हमारे देखते बनी है। अब डाक से तो केवल शेयर सर्टिफिकेट्स आते हैं। चिट्ठियां भला कौन भेजता है। वरना दोपहर के बाद लेखक के घर कितनी सारी चिट्ठियां संवाद करने पहुंच जाती रही हैं। अब तो केवल पत्रिकाएं ही आती हैं। यह भी यदि चिट्ठीरसैन पुस्तक प्रेमी न हुआ तो। कविता मनुष्यता का राग है और कविता संवेदनशील बनाती है, इसी संग्रह की उम्दा कविताएं हैं जिसका आशय यह है कि यदि बाहर आग लगी हो तो कविता लिखने में मशगूल न रहो, पहले आग बुझाओ। बतर्ज रियाज़ बनारसी गिरे

को पहले उठाओ। ये ताजिया रख दो।

आखिर के दो संग्रह मैं तो यहां हूँ और रात सपने में क्रमशः २०१५ और २०१७ में आए। यह उनकी निरंतरता का प्रमाण है कि वे इस उत्तर वय में भी सपने बुनते रहते हैं और कविताओं, गज़लों और डायरी में अपने जीवनानुभव को दर्ज करते रहते हैं। उनकी कविता उसके भीतर एक सपना था-पढ़ते हुए लगता है यह वाक्य जैसे उन्होंने अपने लिए ही लिख रखा हो। कवि अपनी ही पंक्तियाँ पदावलियों में कहाँ किसी रूपक, किसी बिम्ब या प्रतीक रूप में आकर बैठ जाए कौन जानता है उसके सिवा कवि तो सपनों से भरा ही होता है। बसंत उनकी प्रिय ऋतु थी तो दिसंबर और जनवरी की धूप लुभाती थी। फूलों की मुस्कान पर वे फिदा हो जाते थे। कहीं लिखा है उन्होंने कि फरवरी का महीना तो जैसे एक गेंदे का भरा पूरा फूल होता है। क्या विडंबना है कि वे गांव से दूर दिल्ली में भी अपना एक गांव और गँवई मन बचाए बसाए रहे। वे उनमें नहीं हैं कि बसंत आ जाए तो उसे जीने की उत्कंठा ही शेष न रहे। वे आज भी छोटे-छोटे सुखों के आभार से भरे दिखते हैं। साहित्य की इस लंबी यात्रा में उन्होंने अपनी रचनाओं को शिल्प की जटिलताओं से बचाया और उसे जीवन की तरह ही आसान और संप्रेषणीय किया है। कभी मैंने उनकी कविता को नए संवत्सर की लय कहा था, वह लय आज भी उनकी कविताओं और कवि व्यक्तित्व में बोलती है।

डॉ. ओम निश्चल

जी-१ /५०६ ए, उत्तम नगर, नई दिल्ली ११००५९

फोन ९८१००४२७७०



रामदरश मिश्र ऐसी कविता के कवि हैं, जो

रामदरश मिश्र भारतीय ग्राम्य संस्कृति के कवि

पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'

हृदय का केवल गहरा स्पर्श न करे, बल्कि हृत्तंत्री को देर तक झनझना दे, विचारों को उद्बुद्ध कर दे, जगा दे, पाठक को सहभावन कराने के साथ-साथ स्थितियों का मूल्यांकन भी करा दे। उनकी सर्जकीय संवेदना में करुणा, विडम्बना और मानवीयता को उद्घाटित करने की पक्षधरता है। वह सतही यथार्थ की जगह अर्थान्वेषी यथार्थ के सर्जक साहित्यकार हैं। साहित्य, समाज और जीवन से संयुक्त रहने के बावजूद वह साहित्य की शिविरद्वन्द्वी से सर्वथा विलग रहे हैं। उनकी रचना में स्वदेश, समकाल और लोगों की गहरी पहचान और परख है। उनके लघु गीतों में कवि-दृष्टि का उन्मेष अपने शिखर पर है। उनके गीतों में कहन शैली की ऐसी बुनावट, भावानुभूति का ऐसा आत्मसातीकरण तथा उसके बीच संवादी सुरों की ऐसी सटीक सार्थकता अन्यत्र देखने को नहीं मिल पाती है। उनकी गीतात्मक प्रवृत्तियों में अनोखी बिम्बोद्भावन की क्षमता है। अपने गीतों में वैयक्तिक राग और प्रकृति राग का वितान तानने वाले मिश्र जी गीत विधा की प्रकृति को जब सामाजिक, राजनीतिक विडम्बनात्मक संत्रासों की निगूढ़ता देते हैं, तब वे युगचेता महान गीतकार बन जाते हैं। उनकी अभिधेयात्मकता व्यंजना में अन्तरित हो जाती है। साहित्योदयान की सभी विधियों में अपनी सर्जना के ऐसे सुमन खिलाने वाले मिश्र जी को ऐसी अनेकशः खूबियाँ उनके पाठकों को स्मरणीय हैं। वह गालिब, निराला और प्रसाद की तरह 'गंजी नए मानी' (कठिन भावबोध) के अनेकार्थों के कवि नहीं होकर भी अपनी कविताओं के सहजपन में सहज से असहज उदार तक

की अर्थमूँजों को बड़ी सहजता से सहेज कर सम्पुटित कर देते हैं। यह सहजता उनके जीवन और सर्जन दोनों का बीजतत्व है।

आज याद आता है कि रामदरश मिश्र का नाम उनकी कविताओं को पढ़ते-पढ़ते और उनसे प्रभावित होते-होते आज से ५५ वर्ष पूर्व मेरे दिल-दिमाग पर छा चुका था। १९६४ का वर्ष था। मैं नया-नया प्राध्यापक नियुक्त हुआ था। हिन्दी की सभी साप्ताहिक, मासिक और त्रैमासिक पत्रिकाएँ नियमित रूप में खरीदता और पढ़ता था। उन दिनों कोई भी ऐसी प्रमुख पत्रिका नहीं थी, जिसमें रामदरश मिश्र नहीं छपे रहे हों। उनके गीत और कविताएँ प्रायः छपती रहती थीं जो बार-बार पढ़े जाने के लिए मुझे आमंत्रित करती थीं और मेरे मन-मस्तिष्क में व्याप्त हो जाती थीं। गेयता, प्रभविष्णुता और काव्यलय से अर्थलय तक की मानसिक यात्रा कराने की शक्ति-क्षमता उनकी कविताओं की विशेषता थी। धर्मयुग हो या साप्ताहिक हिंदुस्तान, कादम्बिनी हो या 'ज्ञानोदय', हर साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिका में अनेक छपी कविताओं के बीच उनकी कविता अपने को अन्य सबसे अलग गाती थी और पाठकों को खींचती थी। उस समय मुझे उनके कवि होने के अतिरिक्त इस बात की जानकारी नहीं थी कि रामदरश मिश्र अन्य किन-किन विधाओं में लेखन करते हैं और न ही यह जानकारी थी कि वे दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक हैं। पर कुछ समय बाद ही मुझे कथा-साहित्य के अनुशीलन से पता चला कि ये उपन्यासकार भी हैं और कहानीकार भी। मैं इस बात से ज्यादा प्रभावित था

कि किस निर्वाध गति से वे अपना कविकर्म कर रहे हैं और कितना अधिक प्रकाशित हो रहे हैं। समय बीतता गया। फिर 'पानी के प्राचीर' उपन्यास को लेकर उनकी प्रसिद्धि हुई और वे ग्राम्य और आंचलिक कथाकार के रूप में माने जाने लगे। फिर उनकी दूसरी पुस्तक आई 'जल टूटता हुआ'। ये दोनों नाम उनके उपन्यासों में भी उनकी काव्य-संवेदना को अभिव्यक्त करने वाले थे। मुझे लगा कि जल तत्त्व है। यह उनकी कविता में भी देखने-गुनने को मिल जाता था। नदी, बाढ़ और बरसात से भरा है उनका साहित्य। 'नदी/ बड़े भोर सारस कँकारे/ नदिया तीर बुलाए' का आकर्षण देखें..।

उन्हीं दिनों मैं नई कहानी की प्रयोगधर्मिता पर अपना शोध-कार्य सम्पन्न कर रहा था। मैं उनकी कुछ कहानियों को लेना चाहता था, पर यह बात मेरी समझ से बाहर थी कि मैं नई कहानी आंदोलन से उन्हें किस तरह जोड़ूँ। उस समय मुझे पहली बार इस बात का भान हुआ कि रामदरश मिश्र एक ऐसे कथाकार हैं जो कि आंदोलन या किसी वाद या शिविर के कथाकार नहीं हैं। वे एक ऐसे मुक्त कथाकार हैं, जिनके यहाँ परिवार, समाज, देश और युगबोध सभी मिल जाएँगे। पर किसी ठप्पे के तहत आप उनका विवेचन नहीं कर सकते। अतएव उनकी कहानियों से प्रभावित होने के बावजूद मैं उनका उपयोग अपने शोधकर्म में नहीं कर पाया। तभी मुझे यह भी पता चला कि प्रकृति के जल-तत्त्व के साथ बचपन और कैशोर्य की सघन स्मृतियों के कारण उनका गहरा आत्मीय लगाव है। पानी को देखने की दोनों दृष्टियाँ उनके पास थीं पानी के उभार की और पानी के बिखराव की।

एक लम्बा समय बीत गया। मैं अपनी अध्यापकीय वृत्ति में रमता गया। दैनिक कार्यभार इतना था कि उससे मुक्त नहीं हो पाता था। अनेक परिषदों के दायित्व भी मेरे साथ जुड़े थे। हाँ, जब-जब उनकी कोई औपन्यासिक नई कृति आती थी, तब-तब मैं उन्हें पढ़ता और रामदरश जी को सराहा करता था। पर बहुत

चाहकर भी तब मैं न उनसे पत्र सरोकार बना सका और न उन पर कुछ लिखने का अवसर ही निकाल सका। १९७७ का साल था। मैं भागलपुर विश्वविद्यालय सेवा से गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में रीडर बनकर आ गया था। तभी एक दिन उस वर्षान्त में मेरे विभागीय प्रोफेसर और अध्यक्ष डॉ. रमेश कुन्तल मेघ ने अपने कमरे में बुलाकर मेरा उनसे परिचय कराया। मेरे सामने डॉ. रामदरश मिश्र थे, जो विभाग में किसी की मौखिकी सम्पन्न कराने आए थे। लंच का समय हो रहा था, सो मेघ जी डॉ. रामदरश मिश्र को अपने साथ अपने घर लंच कराने ले गए। इस पहली और छोटी-सी मुलाकात में मैंने पाया कि रामदरश जी शांत-संयत और हँसमुख थे। तब पाँच-छह वाक्यों में उनसे मेरी जो संक्षिप्त बातचीत हुई, उससे उनकी शालीनता और आत्मीयता का भी आभास हुआ।

रामदरश मिश्र जी से मेरी दूसरी मुलाकात इसके एक वर्ष बाद हुई। हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला में एम.ए. की उत्तर-पुस्तिकाओं के मूल्यांकन के लिए कई विश्वविद्यालयों से लोगों को बुलाया गया था। उनके आमंत्रण पर मैं अमृतसर से पहली बार शिमला पहुँचा था और अतिथि भवन में ठहरा था। वहीं मुझे रात में 'डिनर' के समय डॉ. रामदरश मिश्र जी सपत्नीक मिले। हम लोगों ने साथ-साथ भोजन किया। जब हम लोग अपने-अपने कमरों में जाने के लिए पहली मंजिल की सीढ़ियाँ चढ़ने लगे तब मैंने उनसे सहज भाव से पूछा कि आप किस कमरे में हैं? उन्होंने अपने कमरे की जो संख्या बताई वह कमरा मेरे कमरे के बगल वाला कमरा निकला। अब हम लोग परस्पर पार्श्ववर्ती थे। दूसरे दिन नाश्ते के समय हम लोगों ने साथ-साथ विश्वविद्यालय कार्यालय जाने का कार्यक्रम बनाया, क्योंकि कार्यालय के निर्दिष्ट होने के बावजूद हमें यह पता नहीं था कि वह भवन कहाँ पर है और हमें किस तरह वहाँ पहुँचना है। विश्वविद्यालय का अतिथि - भवन पहाड़ की निचाई पर स्थित है और विश्वविद्यालय का वह कार्यालय

उससे ऊँचाई पर सो हम लोग अतिथि भवन से नीचे उतरकर एक साथ ठीक दस बजे ढालवे से चलते हुए ऊँचाई की ओर बढ़ने लगे। मैं मिश्र जी से सत्रह वर्ष छोटा हूँ। फिर भी हम दोनों की साँस चढ़ने लगी। हमने अपनी गति धीमी की और अगल-बगल की रमणीक वृक्ष-मालाओं को पीछे छोड़ते हुए धीरे-धीरे विश्वविद्यालय के केन्द्रीय भवन तक पहुँच गए। वहाँ अपने गंतव्य स्थल के बारे में जो भी मिला, उससे पूछताछ की। फिर सीढ़ियाँ चढ़ते हुए हम उस विशाल प्रशाल में पहुँच गए, जहाँ उत्तर-पुस्तिकाएँ जाँची जानी थीं। हमने अपना-अपना काम शुरु किया। बीच-बीच में चाय बिस्किट लेने का प्रबंध था। लंच के लिए हम पुनः लौट कर अतिथि-भवन गए और वहाँ से पुनः चढ़ाई चढ़कर उस विशाल प्रशाल में लौट आए। न जाने क्यों और कैसे उस दिन एक ही समय हम दोनों के मुँह से सहसा यह वाक्य निकला कि यह काम बड़ा उबाऊ है और हमें सात-आठ दिन यहाँ रहना है। कैसे चलेगा?

उससे अगले दिन संध्या समय हम दोनों ने शिमला के माल रोड जाने का कार्यक्रम बनाया। हम चाह रहे थे कि हमें विश्वविद्यालय की गाड़ी की सुविधा मिल जाए पर यह संभव नहीं था, क्योंकि वहाँ बीसियों लोग भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों से पधारे हुए थे। अतएव हमने संध्या समय बस से ही माल रोड जाने का कार्यक्रम बनाया। हम अतिथि-भवन लौटे तो भाभी जी तैयार बैठी थी। हम लोगों ने डायनिंग हॉल में आकर चाय बनवा कर पी। फिर धीरे-धीरे ऊँचाई चढ़ते हुए हम परिसर के पोस्ट आफिस की बिल्डिंग के पास पहुँचे। वहीं पर बस अड्डा था। हम लोगों ने वहाँ से पहली छूटने वाली बस ली और उससे मॉल-रोड शिमला पहुँच गए। माल-रोड पर तो हमें पैदल ही चलना था, इसलिए हम लोग थोड़ा-बहुत ही चले-फिरे। फिर उस ऊँचाई से एक जगह नीचे की ओर उन्मुख हुए, क्योंकि नीचे बाजार था और भाभी जी को कुछ घरेलू उपयोगी चीजें तथा शॉल आदि की खरीद करनी थी। इस खरीदारी

के क्रम में समय खिसकता गया और संध्या के सात बज गए। अंधेरा घिर आया था। हम लोग उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ से बालूगंज होते हुए यूनिवर्सिटी तक मिनी बस जाती थी। पर वहाँ उस समय न कोई जाने वाली बस थी और न तत्काल उसके आने की कोई संभावना थी। हमें बताया गया कि जब गई हुई बस लौटकर आएगी, तभी यहाँ से जाना संभव हो सकेगा। ऊपर-नीचे करते हुए हम तीनों थक चुके थे। पर वहाँ नजदीक में बैठने की न कोई जगह थी और न कोई व्यवस्था ही। हम लोग रेलिंग पकड़कर नीचे की ओर देखने लगे। नीचे सारा शिमला शहर और उसका रेलवे स्टेशन बत्तियों से जगमगा रहा था। सुदूर नीचे स्थलीय अंतराल पर बल्ब दीए की तरह टिमटिमा रहे थे। हम तीनों ही पहाड़ की चढ़ाई और यातायात की कुव्यवस्था से बुरी तरह प्रभावित थे। हमारे दो दिनों के अनुभव का निचोड़ यह चिन्ता थी कि शिमला में हमारे सात-आठ दिन कैसे कटेंगे? मिश्र जी दिल्ली जैसे शहर से आए थे जहाँ मिनट मिनट पर यातायात के साधन और वाहन उपलब्ध हैं। यद्यपि तब तक अमृतसर में रहते हुए मेरा साल भी पूरा नहीं हुआ था, पर मेरा अनुभव भी यही था कि वहाँ ऑटो और रिक्शे जी.टी. रोड पर हर पाँच-सात मिनट में सुलभ थे। पर हम तो कभी भारत की ग्रीष्मकालीन राजधानी रही उस शिमला में उपस्थित थे जहाँ यातायात का कष्ट हमें त्रासद प्रतीत हो रहा था। अंततः हम तीनों के मुँह से यही निकला कि हम लोग समतल मैदान के रहने वाले पहाड़ हम सबके लिए एक-दो दिन घूमने-फिरने के लिए तो ठीक है, पर यहाँ हमारे सात-आठ दिन कैसे कटेंगे? खैर! हमें कोई एक घंटे बाद एक मिनी बस मिली और हम लोग विश्वविद्यालय परिसर में आ गए। फिर वहाँ से खरीदे हुए सामान को उठाया। कुछ ऊपर चढ़ते और नीचे ढालवें से उतरते हुए हम विश्वविद्यालय के अतिथि-भवन पहुँचे और वहाँ सीधे डाइनिंग रूम में आ धमके, क्योंकि हममें इतना धीरज शेष नहीं रह गया था कि हम सीधे ऊपर अपने-अपने कमरों में जाएँ और फिर वहाँ से फ्रेश होकर हम नीचे

खाने की मेज तक आएँ। थकान ने हमारे धीरज का मानो चीरहरण कर डाला था। उस रात हम लोग खाकर सीधे अपने-अपने कमरे में गए और सो गए। फिर तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें दिन विश्वविद्यालय व्यवस्था का वहीं एकरस रूटीन कार्यक्रम रहा। बीच-बीच में इस एकरसता को भंग करने वाली कुछ इतर चर्चाएँ चलती रहीं। कुछ उत्तर-पुस्तिकाओं में अमान्य तौर पर लिखे हुए अंशों को एक-दूसरे के पास जाकर बाँचने सुनाने और हँसने-हँसाने का प्रयत्न करने का कार्यक्रम चलता रहा।

शिमला में रहते हुए मिश्र जी और भाभी जी के साथ हमारी आत्मीयता बढ़ी। मिश्र जी की कविताओं को उनके मुख से सुनने के अवसर मिलते रहे। उस औपचारिक कार्यक्रम में एक अनौपचारिक आत्मीय भाव हमारे अपने-अपने कक्षों में परस्पर एक-दूसरे का स्वागत करने को सदैव तत्पर था। वहीं मुझे पता चला कि भाभी जी हिन्दी की एम.ए. हैं और उन दिनों वह अपनी पीएच.डी. के लेखन में व्यस्त भी थीं। उनके रहने से हमारे बीच पारिवारिक बोध विकसित हुआ। हफ्ता पूरा होने पर हम लोग सात दिनों की दिहाड़ी और यात्रा भत्ता का चेक लेकर अपने-अपने गंतव्य शहर लौट आए। इसके बाद हम दोनों के बीच आत्मीय और अकादमिक दोनों प्रकार के संबंध प्रगाढतर होते गए। मैंने उनकी कविता पुस्तक 'कंधे पर सूरज' की समीक्षा की, जो 'आलोचना' त्रैमासिक में प्रकाशित हुई। उसके बाद शायद ही उनकी कोई ऐसी महत्वपूर्ण पुस्तक रही हो, जिस पर मैंने समीक्षा लेख नहीं लिखा हो। दिल्ली में आई बाढ़ पर उनकी प्रकाशित पुस्तक 'आकाश की छत' पर मैंने लम्बा समीक्षात्मक लेख लिखा, 'दूसरा घर' उपन्यास पर भी लिखा। उनकी 'परिवार' नामक उपन्यासिका पर भी लिखा। उनकी आत्मकथा के दूसरे खंड की मैंने विस्तृत समीक्षा की। कविताओं में 'आम के पत्ते', 'आग हँसती है' तथा अन्य कई पुस्तकों पर भी आलेख लिखे ।

रामदरश जी की कवि-दृष्टि की की गहरी परख आज भी बेजोड़ है। वह अपनी सर्जनात्मकता में विश्व दृष्टि के चश्मे से झाँकताक कर कविता नहीं लिखते। उनकी संवेदित दृष्टि उनके मर्म के तन्तु जाल को झंकृत कर देती हैं इसके साथ ही उनकी कवि-दृष्टि काल, स्थल, स्थिति, लोग उनकी करुणा, विडम्बना संत्रास, भय और सन्नाटे को अर्थवान करने लग जाती है। यह अर्थ सीधे दिल से टकराता और विवेक को झकझोरता है। इसीलिए मैं उन्हें सामान्य-सी घटना तक में कविता को साधने और बाँधने वाला अकेला और अद्वितीय कवि मानता हूँ। वे यह नहीं कहते कि सन्नाटा बुनता हूँ, पर उनका कवि-धर्म यही करता है। उनकी इस पहचान और परख को प्रायः जनवादी कवि-अलोचक नहीं जानते-मानते हैं। रामदरश जी की जिजीविषा साहित्य से अनुप्राणित और साहित्य में ही निहित है। वही उनकी पिपासा है, वही उनकी रिरंसा (रमणेच्छा) है और वही उनकी सिसृक्षा है। वे प्रकृति और पर्यावरण तथा ग्राम्य भारतीय संस्कृति के कवि हैं, मानसिक विकृति के नहीं, जैसा आज प्रायः समकालीनों में देखने-पढ़ने को मिलता है। उनकी वाणी में अब भी वही आकर्षण है। आँखों में वही दृष्टि की उत्सुकता है। काया थोड़ी क्षीण पड़ी है। गर्दन थोड़ी झुकी है, पर मेरुदंड पूर्ववत तना है, बहुत सारे संघर्ष के राज को पचाये। वैसे ही रामदरश जी की कविताएँ भी अपनी सहजता में सीधी गोताखोरी के लिए पाठकों को न्योतती हैं। ठीक वैसे ही जैसे प्रेमचन्द की कहानियाँ सहज होकर भी पाठकों को गोताखोरी के लिए आमंत्रित करती हैं। मिश्र जी अपने-अपने देखे सुने और भोगे यथार्थ को कला-सत्य बना देते हैं। आपातकाल के दौरान उनके द्वारा लिखी एक कविता 'वसंत' ने मुझे झकझोर दिया था। 'कोयल से मैंने कहा- गाओ / कुछ सन्नाटा कटे /वह चुप रही/मैंने कहा/मेरे पास आओ/ कुछ सन्नाटा कटे/वह डाल पर बैठी रही / मैंने कहा-/अच्छा सुनो, मैं ही गाता हूँ। उसने सहमी निगाहों से चारों ओर देखा-/ और एकाएक उड़ गयी... इस कविता का शीर्षक है 'वसन्त' और कविता

में छाया है सन्नाटा। वसन्त अनेकविध मुखरता का परासन्देशी शब्द (वर्णसंज्ञा) है। वसन्त रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, नाद सबकी मुखरता है। यह कविता निराला के 'भरा हर्ष वन के मन, नवोत्कर्ष छाया'-वाले वसन्त की वासन्ती कविता नहीं है। यहाँ तो सन्नाटा-ही-सन्नाटा है। यहाँ कोयल की पंचम तान को कौन कहे, कोयल निःशब्द, मूक-मौन है। वह गाने के आग्रह को ठुकरा कर चुप रह जाती है। कवि उसे अपने समीप बुलाना चाहता है, पर वह इसे भी नहीं स्वीकारती और डाल पर यथावत् बैठी रहती है। कोयल की इस चुप्पी और स्थिरता की यथास्थिति में अंततः कवि उसे श्रोता की भूमिका में आने का आग्रह करता है और कहता है कि मैं ही गाता हूँ, तुम सुनो। पर वह सहमी नजरों से चारों ओर देखती और उड़ जाती है। वह द्रष्टा भाव, भोक्ता भाव और साक्षी भाव-तीनों में से किसी भी भूमिका निर्वाह को नहीं स्वीकारती और उड़ कर पलायन कर जाती है। कविता में 'वसन्त' कवि का बीज शब्द (वर्णसंज्ञा) है और 'सन्नाटा' तथा 'सहमी निगाह' प्रतिपाद्य शब्द (रूपसंज्ञा) हैं। 'वसन्त' आपातकाल (श्लिष्ट) बन जाता है और 'वसन्तोत्सव' 'अनुशासन पर्व' में बदल जाता है। स्मरणीय है कि विनोवा ने आपात काल को 'अनुशासन पर्व' की संज्ञा दी थी। लोकमानस में प्रजा के बीच सन्नाटा है, सहमे-सहमे रहने की आशंकित स्थिति है। जन-मानस की अभिव्यक्ति प्रतिबंधित है, पर सत्ताधारियों के यहाँ वसन्तोत्सव है। 'आपात काल पर दुष्यन्त ने गजलें लिखीं, धर्मवीर भारती ने मुनादी कविता लिखी। पर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के छिनने, सन्नाटा छा जाने और सहमे-सहमे रहने जैसी त्रासद -व्यंजना जैसी इस कविता में हुई है, वैसी मुझे अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिली। यहाँ सत्ता का बुना हुआ सन्नाटा है, कवि-दृष्टि का बुना हुआ सन्नाटा (मैं सन्नाटा बुनता हूँ) नहीं है। कहना न होगा कि यह कविता रामदरश मिश्र को एक महान कवि बना देती है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि यह कविता कालांकितता (श्लिष्ट) से उत्पन्न होकर भी कालातीतता (वर्णसंज्ञा) का स्पर्श कर उठती है। इस कविता में

कवि का पूरा स्वदेश, स्वदेश के लोग और उसका समकाल तीनों ही मुखर हुए हैं। अपनी इस कविता में कवि की भागीदारी द्रष्टा, भोक्ता और स्रष्टा तीनों की है।

साई कृपा
५८ बाल एविन्य
डाकघर -छोटा छेहटा
अमृतसर १४३१०५
मो. ९८७८६४९४८



रामदरश मिश्र

की कविताये

सूर्य

तुम्हारा अनंत प्रकाश
तुम्हारी अनंत ऊर्जा
ब्रह्माण्ड का जीवन बनकर
अनंत समय में व्याप्त है
तुम्हारी हर सुबह
अंधकार के महासमुद्र से उगती है
महाश्री की तरह
और जड़-चेतन का स्पन्दन बनकर
गा उठती है समय के सन्नाटे में
वेदों से लेकर आज तक
तुम्हारी प्रार्थना में झुकी हैं-
ऋचाएँ, कविताएँ, कथा-कहानियाँ
न जाने कितने-कितने कैसे-कैसे महान मिथक
तुझमें समाये हुए हैं
सारी नदियाँ अर्ध जल की तरह
तुम्हीं को समर्पित हैं।
हवाएँ तुम्हारी ही परिक्रमा में
तुम कितने महान हो सूर्य !
लेकिन जब शाम को अपना दिन समेटकर
तुम उतर जाते हो पश्चिम की अँधेरी घाटी में
तब आले में चुपचाप पड़ा एक नन्हा-सा दीया
सोचता रह जाता है-
“काश जाने से पहले ओ सूर्य,
तुमने मेरी बाती को अपनी एक किरण दे दी होती।”
दीये को उदास देख
बोलती है वहीं माचिस में दुबकी एक तीली
“नहीं निराश न हो मेरे भाई
सूर्य नहीं तो क्या हुआ मैं तो हूँ न”
और वह अपने को जलाकर
दीये की लौ बन जाती है
फिर दीप से दीप जलते चले जाते हैं
और अंधकार के पारावार में तैरती रहती हैं
ज्योति की छोटी-छोटी नावें सुबह होने तक.....

अब नहीं आतीं चिट्ठियाँ

अब मुझे नहीं रहती डाक की प्रतीक्षा
अब तो वह सामान की तरह आती है
डाक से आज फिर आयीं-
कुछ छोटी-बड़ी पत्रिकाएँ
कुछ अनचाही पुस्तकें
कुछ गोष्ठियों के निमंत्रण-पत्र
टेलीफोन का बिल
पर नहीं आयी कोई चिट्ठी

माना कि समाचारों का तुरन्त आदान-प्रदान
हो जाता है मोबाइल से
किन्तु चिट्ठियाँ तो चिट्ठियाँ होती हैं न
आदमी के अंतरतम की कितनी गहरी पुकार
उसकी उँगलियों में उतर आती है स्पंदन बनकर
वही स्पंदन लेखनी में समा जाता है
लेखनी रचने लगती है आत्मा का संवाद-
भिन्न-भिन्न आकारों में
चिट्ठी कागज का टुकड़ा न रहकर
आदमी का व्यक्तित्व बन जाती है।

चिट्ठियाँ एक बार बोलकर चुप नहीं हो जातीं
वे रह-रहकर बतियाती हैं
सोई रहती हैं, फिर जाग जाती हैं
समय बीतने के साथ गहराती जाती है
उनके होने की महक
सुदूर अतीत से भी वे पुकारती हैं
वे आईना बन जाती हैं
जिसमें झाँक-झाँककर
वर्तमान अपना कल का चेहरा देखता है
और समय समय न रहकर
संवेदना का प्रवाह बन जाता

धूप

कितने दिनों बाद आज धूप हँसी है
उफ कितना ठंडा समय था
कुहरे में पूरी धरती सहमी पड़ी थी
हवाएँ थरथराती हुई आती थीं
समा जाती थीं बंद कमरों में बेरोकटोक
सड़कें स्तब्ध थीं
उन पर सरक रही थीं ठिठुरी हुई ज़िन्दगियाँ
रेलगाड़ियाँ डरी हुई खड़ी थीं या रंग रही थीं
विमानों के पंख खुल नहीं रहे थे
शरीर सुन्न थे, चेतना स्तब्ध थी
मैं कमरे में बंद होकर सोचता रहता था-
उनके बारे में
जो फटी रजाई या कंबल लपेटे
रात में फुटपाथ पर सोते होंगे
उनमें से तो कई को सुबह जगा भी नहीं पाती होगी
कैसी है करुणामय की सृष्टि-लीला
कि कुछ लोगों को यहाँ भेजता है बेसहारा
समाज और प्रकृति की केवल मार खाने के लिए

मैं लेखक हूँ
मेरे भीतर और बाहर का दर्द समेटकर
कलम चलती रहना चाहती है।
वह मुझे मेरे होने का बोध कराती है
लेकिन इस ठंडक में वह दुबकी रही निस्पंद
समय चुपचाप सरकता रहा-
मेरे भीतर एक व्यर्थता-बोध छोड़कर

तो आज कितना अच्छा लग रहा है
शीत के भयानक जाल को तोड़कर
धूप निकल आई है
वह तन को अपनी उष्मा से नहला रही है

और नव स्पंदन भर रही है चेतना में
सड़कें रौनक से भर गई हैं
सामने की सड़क पर
झुंड के झुंड लोग एक साथ बैठकर
कुछ कहसुन रहे हैं

स्कूली बच्चे अब सिकुड़कर नहीं
सूरजमुखी के फूल की तरह खिले हुए
हँसते-चहकते जा रहे हैं
पेड़ पर का सजाटा
गुंजित हो उठा है चिड़ियों के राग से
रात को फुटपाथ पर लेटे शरीरों को
सहला रही है धूप
और पूछ रही है-“ठीक तो हो न भाई !”
मेरी कलम अँगड़ाई लेकर जाग उठी है
कह रही है-

मुझे घूमने दो चारों ओर की खुशियों में-
शहर से लेकर गाँव तक
खेतों में फूलों सी लदी
जो फसलें उदासी में डूबी थीं
वे खिलखिला रही होंगी
उन पर नाच रहे होंगे तितलियों के पंख
प्रसन्नता की तरह आकाश उन पर झुका हुआ
आशीष बरसा रहा होगा
मुझे लिखने दो धूप की कथा
देखो-देखो मैं कितनी खुश हूँ
कुछ दूर मुझे वसंत की पदचाप सुनाई दे रही है।

पूरा देश तुम्हारा गाँव हो गया है

बहुत याद आ रहा है अपना गाँव
नहीं जा पाने की शारीरिक विवशता
जितनी गहराती जा रही है
उतनी ही घनी होती जा रही है गाँव की याद

यो सुनता हूँ कि
 गाँव के ठेठ लोग भी अब सरक रहे हैं
 आस-पास के शहरों की ओर
 प्यार भरे संवादों में डूबे मकान
 अब आपस में टकरा रहे हैं
 या गुर्गुरा रहे हैं मौन होकर
 राजनीति के काले साये
 डैने फैलाये उड़ रहे हैं प्रेतों की तरह
 चैत में फसलों की सामूहिक गंध
 अब खलिहानों को उन्मत्त नहीं करती
 अब नहीं उठतीं वहाँ चाँदनी में चैता की धुनें
 अब तो मशीनें ही कर लेती हैं सब कुछ
 अलग-अलग
 अब मौसम अपने राग लिए आते हैं
 और सिवानों पर ठिठककर खड़े हो जाते हैं।
 सोचते हैं
 कहाँ गये वे पेड़
 जो हमारे होने की पहचान होते थे
 अब त्योहार आते हैं
 और बिना गाये चले जाते हैं।
 अब तो टी.वी. हर घर को अपने में समेटे हुए
 पड़ा होता है उसके अंदर
 लेकिन मेरे भीतर जो गाँव बसा है
 उसका क्या करूँ?
 वह सोते-जागते मुझे आवाज़ देता रहता है
 हाँ, उस गाँव में अभाव के गहरे दंश थे
 किन्तु स्वरो का सन्नाटा नहीं था
 खेत-खलिहान
 बाग-बगीचे
 ताल-तलैया
 गलियाँ-रास्ते
 सामूहिक लय में गाया करते थे

मौसमों और त्योहारों के उल्लास में
 हर घर एक हँसता हुआ चिराग बन जाता था
 सब पर सबके साथ
 मेरी रफ्तार के भी निशान थे
 न जाने कहाँ-कहाँ तक की दूरियाँ
 मेरे नंगे पाँवों में समाई हुई थीं

तो बुलाता है गाँव
 इच्छा होती है दुनिया से जाने से पहले
 एक बार वहाँ हो आऊँ
 देखूँ-मेरे समय के कौन-कौन लोग अभी जिन्दा हैं
 समय ने उन पर कौन-कौन-सी कथाएँ लिखी हैं।
 सामूहिक लय में गाया करते थे
 मौसमों और त्योहारों के उल्लास में
 हर घर एक हँसता हुआ चिराग बन जाता था।
 सब पर सबके साथ
 मेरी रफ्तार के भी निशान थे
 न जाने कहाँ-कहाँ तक की दूरियाँ
 मेरे नंगे पाँवों में समाई हुई थीं

तो बुलाता है गाँव
 इच्छा होती है दुनिया से जाने से पहले
 एक बार वहाँ हो आऊँ
 देखूँ मेरे समय के कौन-कौन लोग अभी जिन्दा हैं
 समय ने उन पर कौन-कौन-सी कथाएँ लिखी हैं
 देखूँ उनके घरों में
 नये समय ने किस रूप में दस्तक दी है.
 नई रोशनी से भरी आँखों में झाँकू
 और देखूँ बदला हुआ गाँव
 कितनी संभावनाओं से दीप्त है।
 पगडंडियाँ सड़कों में रूपांतरित होकर
 कहाँ जा रही हैं।

और क्या ला रही हैं।

बुलाता रहता है अपना यह कच्चा घर
जिसकी गोद में मेरे बचपन ने रूप लिया था-
अनेक सुख दुखों और सपनों के साथ
जिसमें बहती थी-
नदी-सी माँ की ममता
धूप-सा पिता का आशीष
हवा-सा आई बहनों का प्यार
जिसके छोटे से आँगन में
चारपाई पर माँ की बगल में लेटकर
निहारता रहता था असीम आकाश
जिसमे रंग-बिरंगे पंछी
पर मारते हुए घर लौट रहे होते थे
जिसकी खुरदरी दीवारों पर
मेरी अनंत साँसों के स्वर अंकित थे
जिसकी छोटी-सी व्याप्ति में
आ-आकर त्योहार
अपना असीम मंगल स्वर फैला जाते थे

इच्छा होती है कि मेरी अंतिम साँस
अपने गाँव की गोद में टूटे
मेरी मिट्टी उसकी मिट्टी में मिल जाये
कि तभी मेरे भीतर से कोई बोलता है-
पागल !
तुम्हें पता नहीं कि
तुम अपने उसी गाँव की मिट्टी लिए
शहर-दर शहर घूम रहे हो
और पूरा देश तुम्हारा गाँव हो गया है।

देवता

रंग-बिरंगे कीमती पत्थरों के घर में
पत्थर के देवता सो रहे थे
लोग उन पर सिर पटक-पटककर रो रहे थे.....
और माँग रहे थे न जाने क्या-क्या
मैं विरक्त भाव से घर लौट आया
और ज्योंही रसोईघर में पहुँचा
चकले से आवाज़ आई-
“अरे तुम कहाँ चले गये थे
मैं तो यहाँ हूँ.. ।

और एक दिन

सदियों चलते-चलते आदमी जंगल से बाहर आया
कितना अच्छा लगा था सभ्यता की रोशनी में नहाना
जंगल में तो हमेशा एक चौकन्ना भय तना रहता था
कि
पता नहीं कौन जीव कब किस कमजोर जीव पर टूट
पड़े
खेलने-कूदने, खाने-पीने, सोने-जागने में
कहाँ कोई निश्चितता थी?

जंगल से बाहर आकर
उसने गाँव बसाये, शहर बसाये
बड़े सम्बन्धों की लय रची
औरों के दर्द उसके आँसू बने
और खुशी उसकी हँसी
उसके भीतर से जंगल जाग जाग न पड़े
इसलिए धर्मग्रंथ लिखे
संविधान बनाये
कविताओं और कलाओं की खुशबू से
संवेदनाओं को महकाया

लेकिन चलते-चलते आज उसके पाँव ठिठक गये
लगा कि जंगल की आवाज़ में कोई रो रहा है।
कौन रो रहा है?
यहाँ तो ऊँचे-ऊँचे हसीन भवनों की शृंखलाएँ हैं
चिकनी-चिकनी हँसती हुई सड़कें हैं
बेतहाशा दौड़ते हुए नाना प्रकार के वाहन हैं
देवताओं की तरह सजे हुए स्त्री-पुरुषों के ओठों पर
सभ्य मुस्कानें तैर रही हैं

मगर कोई रो रहा है।
कह रहा है- 'मैं समय हूँ
देखो, मेरी छाती फाड़कर देखो
इसमें कितने चीत्कार समाये हुए हैं-
भूखे नंगे असहायों के
कत्ल किये गये अनंत बेकसूरों के
बलात्कार का शिकार हुई बच्चियों और युवतियों के
चुराकर ले जाये गये मासूम बच्चों के
(जो या तो बेच दिये गये हैं
या फिर फिरौती न मिलने पर मार दिये गए हैं)
बम विस्फोट के झुलसे हुए मेलों और बाज़ारों के
दूषित राजनीति, पैसा और धर्म के मायावी खेल से
पीड़ित
भोली-भाली बस्तियों के ।

कितनी बड़ी विडंबना है कि
आदमी जंगल का जंगलत्व तो ले आया
किन्तु पेड़-पौधों का जीवनदायी हरापन
नदियों, नालों का कलकल संगीत
खुली हवाओं का प्राण स्पंदन
तरह-तरह के पंछियों की चहचहाहट
नाना प्रकार के फूलों की सुगंध का सहगान
वहीं छोड़ आया

और कंक्रीट के निस्पंद भवनों में बंद होकर
यंत्रों से जिन्दगी माँग रहा है।
तथा स्वयं धीरे-धीरे निर्मम यंत्र बनता जा रहा है
पता नहीं आदमी मुझे कहाँ ले जाकर छोड़ेगा
वह नादान नहीं समझ रहा है कि
मैं समय हूँ
उसकी उच्छृंखल निर्मम यात्रा का बोझ
बहुत देर तक मैं सहन नहीं कर पाऊँगा
और एक दिन....”



ग़ज़ल

रामदरश मिश्र

बनाया है मैंने ये घर धीरे-धीरे
खुले मेरे ख्वाब के पर धीरे-धीरे
किसी को गिराया न खुद को उछाला
कटा ज़िन्दगी का सफ़र धीरे-धीरे
जहाँ आप पहुँचे छलाँगें लगा कर
वहाँ मैं भी पहुँचा मगर धीरे-धीरे
पहाड़ों की कोई चुनौती नहीं थी
उठाता गया यों ही सर धीरे-धीरे
गिरा मैं कहीं तो अकेले में रोया
गया दर्द से घाव भर धीरे-धीरे
ज़मीं खेत की साथ लेकर चला था
उगा उसमें कोई शहर धीरे-धीरे
न रोकर, न हँसकर किसी में उड़ला
पिया खुद ही अपना ज़हर धीरे-धीरे
मिला क्या न मुझको, ऐ दुनिया तुम्हारी
मुहब्बत मिली है अगर धीरे-धीरे

जीवन वृत्त

नाम : डॉ. रामदरश मिश्र

जन्म : १५ अगस्त, १९२४

शिक्षा : एम.ए., पीएच.डी.

सम्प्रति : प्रोफेसर (सेवा निवृत्त) हिंदी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय
विख्यात हिंदी लेखक

कृतियाँ

काव्य : पथ के गीत, बैरंग-बेनाम चिट्ठियाँ, पक गई है धूप, कन्धे पर सूरज, दिन एक नदी बन गया, मेरे प्रिय गीत, बाजार को निकले हैं लोग, जुलूस कहाँ जा रहा है?, रामदरश मिश्र की प्रतिनिधि कविताएँ, आग कुछ नहीं बोलती, शब्द सेतु, बारिश में भीगते बच्चे, हँसी ओठ पर आँखें नम हैं (गज़ल संग्रह), ऐसे में जब कभी, आम के पत्ते, तू ही बता ऐ जिंदगी (गज़ल संग्रह), हवाएँ साथ हैं (गज़ल संग्रह), कभी-कभी इन दिनों, धूप के टुकड़े, आग की हँसी, लमहे बोलते हैं, और एक दिन, मैं तो यहाँ हूँ, अपना रास्ता, रात सपने में, सपना सदा पलता रहा (गज़ल संग्रह), पचास कविताएँ, रामदरश मिश्र की लंबी कविताएँ, दूर घर नहीं हुआ (गज़ल संग्रह), बनाया है मैंने ये घर धीरे धीरे (गज़ल संग्रह), समवेत।

उपन्यास : पानी के प्राचीर, जल टूटता हुआ, सूखता हुआ तालाब, अपने लोग, रात का सफर, आकाश की छत, आदिम राग, बिना दरवाजे का मकान, दूसरा घर, थकी हुई सुबह, बीस बरस, परिवार, बचपन भास्कर का, एक बचपन यह भी, एक था कलाकार ।

कहानी संग्रह : खाली घर, एक वह, दिनचर्या, सर्पदंश, बसन्त का एक दिन, इकसठ कहानियाँ, मेरी प्रिय कहानियाँ, अपने लिए, अतीत का विष, चर्चित कहानियाँ,

श्रेष्ठ आंचलिक कहानियाँ, आज का दिन भी, एक कहानी लगातार, फिर कब आएँगे?, अकेला मकान, विदूषक, दिन के साथ, मेरी कथा यात्रा, विरासत, चुनी हुई कहानियाँ, संकलित कहानियाँ, लोकप्रिय कहानियाँ, २१ कहानियाँ, नेता की चादर, स्वप्नभंग, आखिरी चिट्ठी, कुछ यादें बचपन की (बाल साहित्य), इस बार होली में, गाँव की आवाज़, अभिशप्त लोक, अकेली वह, जिन्दगी लौट आई थी

ललित निबन्ध : कितने बजे हैं, बबूल और कैक्टस, घर-परिवेश, छोटे-छोटे सुख, नया चौराहा, फिर लौट आया हूँ मेरे देश ।

आत्मकथा : सहचर है समय।

यात्रावृत्त : घर से घर तक, देश-यात्रा।

डायरी : आते-जाते दिन, आस-पास, बाहर-भीतर, विश्वास ज़िन्दा है, मेरा कमरा, सुख-दुख के राग।

आलोचना : १. हिंदी आलोचना का इतिहास (हिंदी समीक्षा : स्वरूप और संदर्भ, हिंदी आलोचना प्रवृत्तियाँ और आधार भूमि), २. ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावन लाल वर्मा, ३. साहित्य : संदर्भ और मूल्य, ४. हिंदी उपन्यास एक अंतर्यात्रा, ५. आज का हिंदी साहित्य

संवेदना और दृष्टि, ६. हिंदी कहानी : अंतरंग पहचान, ७. हिंदी कविता आधुनिक आयाम (छायावादोत्तर हिंदी कविता), ८. छायावाद का रचनालोक, ९. आधुनिक कविता: सर्जनात्मक संदर्भ, १०. हिंदी गद्यसाहित्य: उपलब्धि की दिशाएं, ११. आलोचना का आधुनिक बोध।

रचनावली : १४ खण्डों में, कविता समग्र कहानी- समग्र ।

संस्मरण : स्मृतियों के छन्द, अपने-अपने रास्ते, एक दुनिया अपनी, सर्जना ही बड़ा सत्य है।

साक्षात्कार : अंतरंग, मेरे साक्षात्कार, संवाद यात्रा ।

संचयन : बूँद बूँद नदी, नदी बहती है, दर्द की हँसी, सरकंडे की कलम।

संप्रति : सेवा-निवृत्त प्रोफेसर दिल्ली विश्वविद्यालय।

सम्पर्क : आर ३८, वाणी विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली- ११००५९; मोब.: ७३०३१०५२९९

अनुवाद

अंग्रेजी

- १) ऊप र्थुप्पहु ईर्त्से ह् दूपि इदासे (इदीब) ईर्प्हूर्त्से (२०२१)
(आग की हँसी) अनुवादक- उमेश कुमार
- २) अँह दँ ईर्त्से (चन्द, खूर्त्से दददे, अत्य (२०००)
(रात का सफर) अनुवादक- अनिल राजिम
वाला
- ३) शदीह प्ह् इग्मदह (पैग्मेस), ईर्त् पद., अत्य (१९८३)
(हिन्दी उपन्यास एक अंतर्यात्रा तथा हिन्दी
कहानी अन्तरंग पहचान) अनुवादक- डॉ. ए.एन.
जौहरी
- ४) ऊप एब्बँदि र्थि ह् धूपि एप्पू एदुगे, ईर्त् इल्त्सेमूदह, अत्य
(१९९८)

(चुनी हुई कहानियाँ) अनुवादक- वाई.एन.

निगम

गुजराती

१. आगनी हँसी (२०२१), साहित्य अकादमी, (आग की हँसी) अनुवादक - आलोक गुप्ता
 २. आदिम राग (चन्द) दर्पण प्रकाशन, नडियाद (२००६)
(आदिम राग) अनुवादक- डॉ. यशवंत
गोस्वामी
 ३. सगा बहालां (चन्द) ईर्त्से, ईर्त्से (१९८९)
(अपने लोग) अनुवादक- मणिलाल पटेल
 ४. रात नी सफर (चन्द) दर्पण प्रकाशन,
नडियाद (२००६)
(रात का सफर) अनुवादक- डॉ. यशवंत
गोस्वामी
 ५. दरवाजा बगरनु मकान (चन्द) दर्पण प्रकाशन,
नडियाद (२००६)
(बिना दरवाजे का मकान) अनुवादक- डॉ.
यशवंत गोस्वामी
- ### मराठी
१. आगीचं हास्य (आग की हँसी) साहित्य
अकादमी २०२२
अनुवाद दिलीप भाउ राव पाटील
- ### कन्नड़
६. रात्रिण पयाण (चन्द) (रात का सफर)
अनुवादकजी. चन्द्रशेखर
- ### मलयालम
७. रात्रिदूल ओस यात्रा (चन्द) (रात का सफर)
अनुवादक- डॉ. जयकृष्णन जे

पंजाबी

१. अग दी हसी (२०२१), साहित्य अकादमी (आग की हँसी) अनुवादक - अमरजीत कौर
२. चोनवींआं कहानी रामदरश मिसरीआं साहित्य अकादेमी पुरस्कृत (रामदरश मिश्र : संकलित कहानियाँ) अनु. - ज़िंदर

प्रमुख सम्मान

- १) सारस्वती सम्मान (२०२१) - के.के. बिरला फाउंडेशन
- २) साहित्य अकादमी (२०१५)
- ३) भारत भारती सम्मान (२००५) - उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ
- ४) शलाका सम्मान (२००१) - हिंदी अकादमी, दिल्ली
- ५) व्यास सम्मान (२०११) - के. के. बिरला फाउंडेशन
- ६) उदयराज सिंह स्मृति सम्मान (२००७) - नई धारा, पटना
- ७) विश्व हिंदी सम्मान (२०१५) - विश्व हिंदी सम्मलेन
- ८) शान ए हिंदी खिताब (२०१७) - साहित्योत्सव, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र
- ९) महापंडित राहुल सांकृत्यायन सम्मान (२००४) - केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा
- १०) दयावती मोदी कवि शेखर सम्मान (१९९८)
- ११) डॉ. रामविलास शर्मा सम्मान (२००३) - आल इंडिया कान्फ्रेंस ऑफ़ इंटरलेक्चुएल्स, आगरा चैप्टर

- १२) साहित्य वाचस्पति (२००८)- हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रभाग
- १३) साहित्य भूषण सम्मान (१९९६) उत्तर प्रवेश हिंदी संस्थान, लखनऊ
- १४) साहित्यकार सम्मान (१९८४) हिंदी अकादमी, दिल्ली
- १५) नागरी प्रचारिणी सभा सम्मान, आगरा (१९९६)
- १६) अक्षरम शिखर सम्मान (२००८)- दिल्ली
- १७) राष्ट्रीय साहित्यिक पुरस्कार (२०१२) - श्री मध्यभारत हिंदी साहित्य समिति, इंदौर
- १८) प्रभात शास्त्री सम्मान (२०१८) - हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग
- १९) साहित्य शिरोमणि सम्मान (२०१८) - अखिल भारतीय स्वतंत्र लेखक मंच
- २०) पूर्वांचल साहित्य सम्मान (२००५) दिल्ली
- २१) सारस्वत सम्मान (२००६) समन्वय, सहारनपुर
- २२) सारस्वत सम्मान (२००६) - सरयू प्रसाद बाल विद्यालय इंटर कॉलेज, कानपुर

पुरस्कृत कृतियाँ

आग की हँसी (साहित्य अकादमी), रोशनी की पगडंडियां (हिंदी अकादमी दिल्ली), हिंदी आलोचना का इतिहास, जल टूटता हुआ, हिंदी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा, अपने लोग, एक वह, कंधे पर सूरज, कितने बजे हैं, जहां मैं खड़ा हूँ, आज का हिन्दी साहित्य: संवेदना और दृष्टि (उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान) अपने लोग (आथर्स गिल्ड), मैं तो यहाँ हूँ, आम के पत्ते (के. के. बिरला फाउंडेशन)

अकादमिक एवं साहित्यिक पद

१. अध्यक्ष, भारतीय लेखक संगठन १९८४-१९९०

२. प्रधान सचिव, साहित्यिक संघ, वाराणसी
१९५२-५५
३. अध्यक्ष, गुजरात हिन्दी प्राध्यापक परिषद
१९६०-६४
४. अध्यक्ष, मीमांसा, नई दिल्ली
५. अनेक मंत्रालयों में हिन्दी सलाहकार समिति के सदस्य
६. गुजरात विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर हिन्दी केन्द्र के प्रभारी प्रोफेसर (१९५९-६४)
७. प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय
८. अनेक विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम समिति के सदस्य
९. साहित्य अकादमी, हिन्दी अकादमी, दिल्ली तथा अनेक विश्वविद्यालयों तथा प्रतिष्ठित संस्थाओं की संगोष्ठियों की अध्यक्षता
१०. कई पत्रिकाओं के सलाहकार संपादक
११. अध्यक्ष, प्रबंध समिति, राजधानी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय (१९९९-२०००)

साहित्यिक उपलब्धियाँ

१. रचनाओं का देश की प्रायः सभी भाषाओं में अनुवाद।
२. अनेक विश्वविद्यालयों तथा विद्यालयों के पाठ्यक्रम में रचनाएँ।
३. देश के अनेक विश्वविद्यालयों में २५० के लगभग पीएच.डी. एवं एम.फिल. शोधकार्य।
४. रचनाओं पर कई समीक्षात्मक ग्रंथ प्रकाशित।
५. अनेक पत्रिकाओं के विशेषांक प्रकाशित

रामदरश मिश्र के साहित्य पर समीक्षा पुस्तकें

१. उपन्यासकार रामदरश मिश्र, सं० डॉ० वेद प्रकाश अमिताभ तथा डॉ० प्रेम कुमार, वाणी प्रकाशन, दिल्ली (१९८२), नया संस्करण नमन प्रकाशन (२०१०)
२. कथाकार रामदरश मिश्र, ले० डॉ० सूर्यदीन यादव, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली (१९८७)
३. रचनाकार रामदरश मिश्र, सं० डॉ० नित्यानंद तिवारी तथा डॉ० ज्ञानचंद गुप्त, राधा पब्लिकेशन, दिल्ली (१९९०)
४. कवि रामदरश मिश्र, सं० डॉ० महावीर सिंह चौहान, वाणी प्रकाशन, दिल्ली (१९९१)
५. कवि रामदरश मिश्र, सं० डॉ० महावीर सिंह चौहान तथा डॉ० नवनीत गोस्वामी, संस्कृति प्रकाशन अहमदाबाद (१९९१)
६. रामदरश मिश्र व्यक्तित्व एवं कृतित्व, ले० डॉ० फूलबदन यादव, राधा पब्लिकेशन, दिल्ली (१९९२)
७. मूल्य और मूल्य संक्रमण (रामदरश मिश्र के उपन्यासों के संदर्भ में), ले० डॉ० विनीता राय, अनिल प्रकाशन, इलाहाबाद (१९९९)

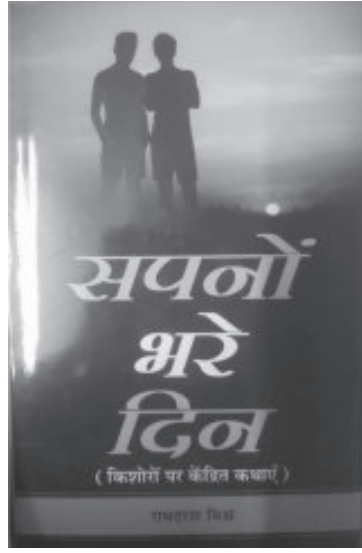


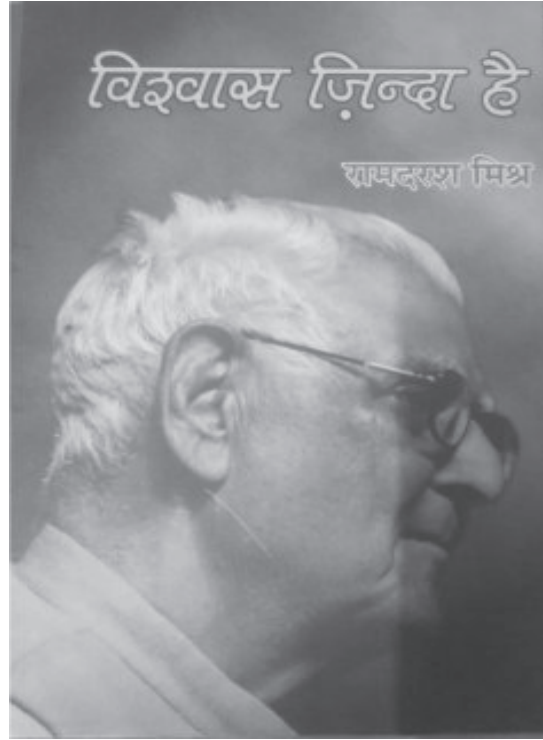
८. रामदरश मिश्र: व्यक्ति और अभिव्यक्ति, सं० डॉ० जगन सिंह तथा डॉ० स्मिता मिश्र, वाणी प्रकाशन, दिल्ली (१९९९)
९. रामदरश मिश्र: रचना - समय, ले० डॉ० वेद प्रकाश अमिताभ पुस्तक भंडार, दिल्ली (१९९९)
१०. रामदरश मिश्र की उपन्यास- यात्रा, ले० डॉ० प्रभुलाल डी० वैश्य, डॉ० गुंजन शाह, पार्श्व प्रकाशन, अहमदाबाद (२००१)
११. रामदरश मिश्र के उपन्यास: चेतना के स्वर, डॉ० गुंजन शाह, साहित्य भारती, दिल्ली (२००२)
१२. रामदरश मिश्र के उपन्यासों में समाज - जीवन, डॉ० प्रकाश प्रकाश चिकुडेकर, नमन प्रकाशन, दिल्ली (२००२)
१३. रामदरश मिश्र की कहानियों में यथार्थ चेतना और मूल्य-बोध, डॉ० राधेश्याम सारस्वत, अम्बा जी, गुजरात (२००२)
१४. रामदरश मिश्र के उपन्यासों में ग्राम - चेतना 'जल टूटता हुआ' के संदर्भ में, डॉ० ममता शर्मा, राष्ट्रीय प्रकाशन, गांधी नगर (२००२)
१५. रामदरश मिश्र: एक अंतर्यात्रा, डॉ० प्रकाश मनु, वाणी प्रकाशन, दिल्ली (२००४)
१६. रामदरश मिश्र के उपन्यासों की वैचारिक पृष्ठभूमि, डॉ० सीमा वैश्य, सत्यम पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली (२००४)
१७. रामदरश मिश्र की कविता: सृजन के रंग, डॉ० सूर्यदीन यादव, शांति पुस्तक भंडार, दिल्ली (२००५)
१८. रामदरश मिश्र के उपन्यासों में गृह-परिवार, डॉ० मनहर गोस्वामी, नया साहित्य केन्द्र, दिल्ली (२००५)
१९. रामदरश मिश्र के उपन्यासों में नारी, डॉ० मनहर गोस्वामी, नया साहित्य केन्द्र, दिल्ली (२००५)
२०. रामदरश मिश्र की कहानियों में परिवारिक सम्बन्धों का स्वरूप, डॉ० अमिता, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली (२००६)
२१. रामदरश मिश्र के उपन्यासों में आंचलिकता, डॉ० श्रीधर प्रदीप, अमर प्रकाशन, मथुरा (२००४)
२२. रामदरश मिश्र के उपन्यासों में ग्रामीण परिवेश, अनिल काले, चिंतन प्रकाशन, कानपुर (२००७)
२३. रामदरश मिश्र के साहित्य में ग्राम्य जीवन, डॉ० वीरचन्द्र जी चौहान, चिंतन प्रकाशन, कानपुर (२००६)
२४. रामदरश मिश्र: सृजन- संवाद, डॉ० सविता मिश्र
२५. समकालीन काव्य - परिदृश्य और रामदरश मिश्र का काव्य, डॉ० सविता मिश्र
२६. रामदरश मिश्र के उपन्यासों में चित्रित नारी, डॉ० एम० शाहुल हमीद
२७. रामदरश मिश्र की काव्य- यात्रा, सं० डॉ० स्मिता मिश्र
२८. रामदरश मिश्र का गद्य साहित्य, डॉ० नाना गायकवाड़
२९. नारी मुक्ति की अवधारणा और रामदरश मिश्र के उपन्यास, डॉ० संजय कुमार त्यागी
३०. रामदरश मिश्र की कहानियों में युगबोध, डॉ० अमित दूबे
३१. रामदरश मिश्र की कहानी - यात्रा, सं० डॉ० स्मिता मिश्र

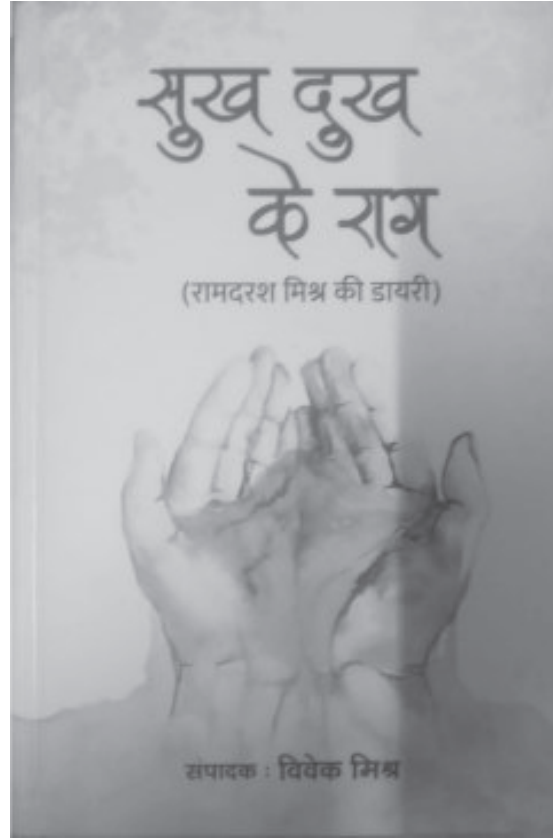
३२. रामदरश मिश्र की कहानियों में अभिव्यक्त सामाजिक यथार्थ, डॉ० श्रीकांत संगम
३३. रामदरश मिश्र के उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ, डॉ० जेड० एम० जंघाले
३४. रामदरश मिश्र के उपन्यासों में सांस्कृतिक चेतना, डॉ० गीता यादव
३५. रामदरश मिश्र के उपन्यासों में चित्रित समस्याएँ : विविध आयाम, डॉ० सुभाष नामदेव
३६. रामदरश मिश्र के आंचलिक उपन्यासों में ग्राम्य समाज - जीवन, डॉ० अनिल एच० भट्ट
३७. कहानीकार रामदरश मिश्र, डॉ० अमृत खाड़ये
३८. रामदरश मिश्र के कथा - साहित्य में ग्रामीण जीवन, डॉ० शिवाजी नाले
३९. जल टूटता हुआ - एक अनुशीलन, डॉ० परदेशी
४०. रामदरश मिश्र के कथा साहित्य में गाँव, डॉ० राजकुमारी
४१. जल टूटता हुआ : एक विवेचन, डॉ० राजकुमारी
४२. रामदरश मिश्र के काव्य में प्रकृति, डॉ० अमित
४३. ग्राम जीवन और रचनात्मक प्रतिभा - डॉ० विंध्याचल मिश्र
४४. स्वातंत्र्योत्तर कविता और रामदरश मिश्र का काव्य वैशिष्ट्य डॉ० अयना मिश्र
४५. रामदरश मिश्र लघु उपन्यासों में स्त्री-पुरुष संबंध डॉ० यशवंत गोस्वामी
४६. रामदरश मिश्र का कथेतर गद्य साहित्य - डॉ० अंजलि उपाध्याय
४७. रामदरश मिश्र के काव्य का अनुभूति पक्ष - डॉ० यशवंत गोस्वामी
४८. रामदरश मिश्र के काव्य का अभिव्यक्ति पक्ष - डॉ० यशवंत गोस्वामी
४९. रामदरश मिश्र का कथा - साहित्य : अंतरंग पहचान - डॉ० रेखा गुप्त
५०. 'बारिश में भीगते बच्चे' तथा 'आग कुछ नहीं बोलती' - डॉ० आशा सिंह सिकरवार

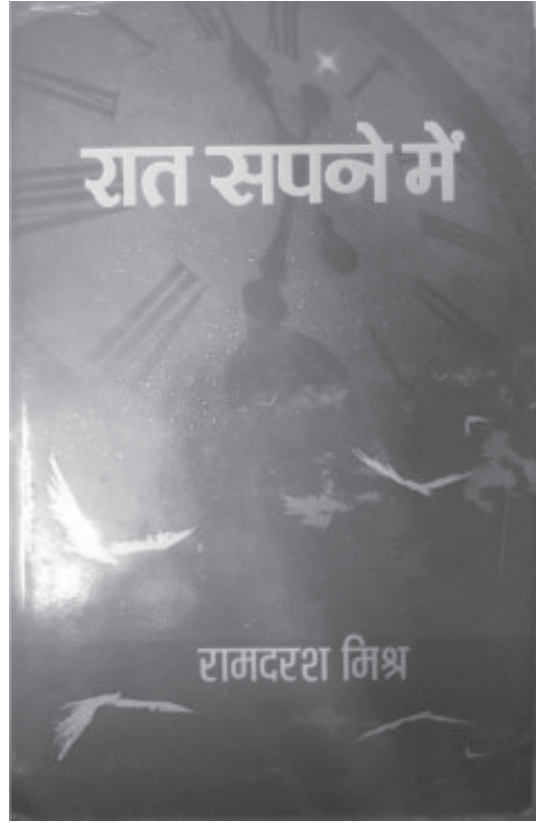
श्रद्धेय
रामदरश मिश्र की कुछ पुस्तकों के आवरण-पृष्ठ

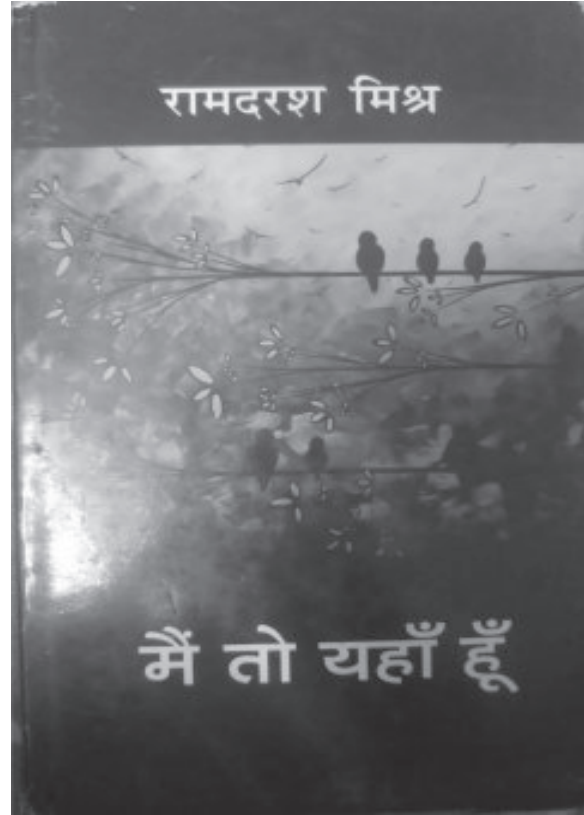




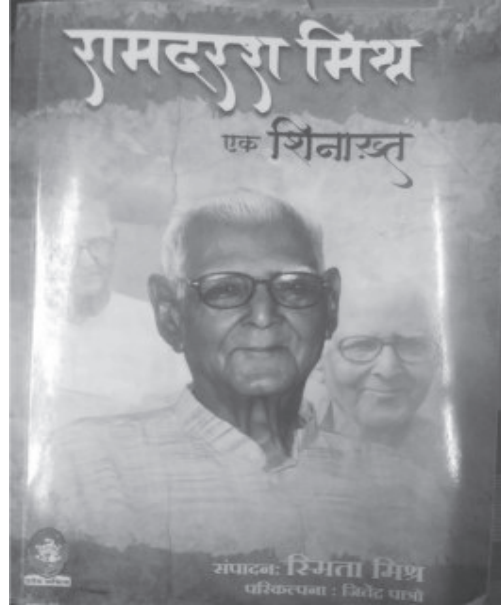




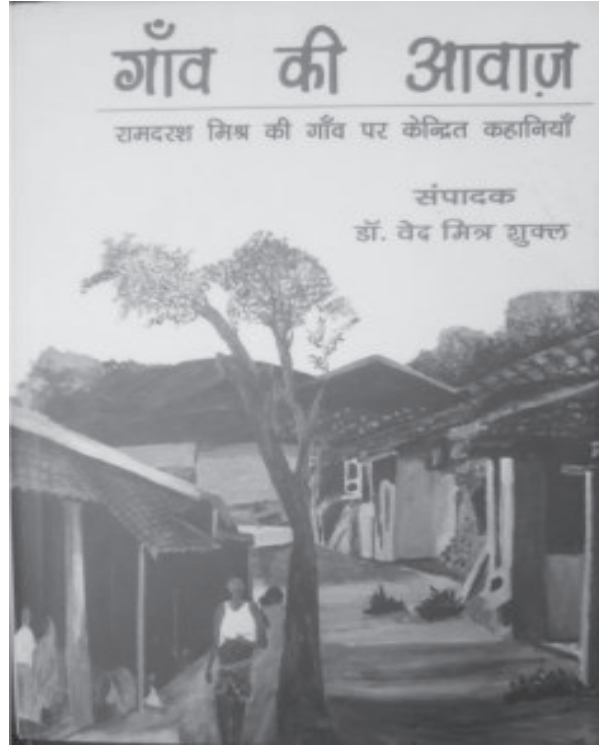




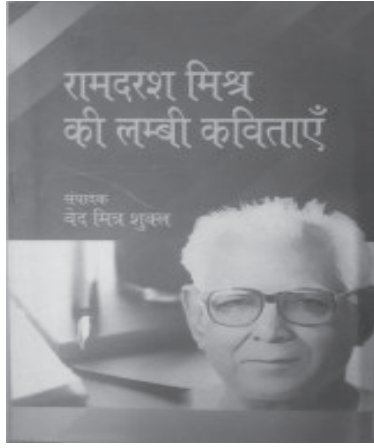
सम्पादन: स्मिता मिश्र



सम्पादक
डा वेद मित्र शुक्ल



सम्पादक
डा वेद मित्र शुक्ल



विभिन्न विधाओं के श्रेष्ठ रचनाकार हैं रामदरश मिश्र

रामदरश मिश्र शताब्दी संगोष्ठी में डॉ रघुवीर चौधरी के उदगार

बनाया है मैंने यह घर धीरे-धीरे
खुले मेरे ख्वाबों के पर धीरे-धीरे
किसी को गिराया ना खुद को उछाला
कटा जिंदगी का सफर धीरे-धीरे ।'

-- रामदरश मिश्र की इस मशहूर गजल की याद दिलाते हुए गुजराती के लेखक डॉ रघुवीर चौधरी ने कहा कि बिना किसी प्रतिस्पर्धा के ही ऐसा लेखक हो सकता है जो कि धीरे-धीरे अपनी राह पर चला हो और समाज की भरपूर स्वीकृति पाई हो। ऐसा कोई लेखक हमारे बीच है तो वह डॉ राम दरश मिश्र जी हैं जिनकी रचनाओं ने व्यापक पाठक संसार को अपनी ओर आकृष्ट किया है। यह बातें साहित्य परिवार की ओर से एचके आर्ट्स कॉलेज और जीएलएस गर्ल्स कॉलेज के संयुक्त सहकार में चीनू भाई सभागार में डॉ रामदरश मिश्र की जन्म शताब्दी पर आयोजित एक दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में अध्यक्ष पद से बोलते हुए डॉ रघुवीर चौधरी ने कही। उन्होंने कहा कि यह उनकी लोकप्रियता ही थी कि गुजरात में डॉ. मिश्र के पहले कविता संग्रह 'बेरंग बेनाम चिट्टियां' का प्रकाशन गुजरात से उन्होंने ही किया और उनके अनेक गीत अनेक मुक्तक उन्हें अभी याद हैं जिसकी बानगी भी उन्होंने अपने वक्तव्य में प्रस्तुत की। उन्होंने रामदरश जी का एक मुक्तक सुनाया : ' दूर ही दूर से बुलाता है /कौन है पास नहीं आता है /उसका आना ना अजनबी जैसा/ लगता फिर भी युगों का नाता है। ' डॉ रघुवीर चौधरी ने कहा कि रामदरश मिश्र की अनेक कविताएं मैंने यहां पाठ्यक्रम में रखवाईं। उनकी सरलता का मुरीद रहा। वे अपने गीत गाकर सुनाते रहे हैं। एक बार छात्रों के साथ दिल्ली गया तो उनसे मिला। क्या सुमधुर गीत लिखा करते थे वे। 'रात-रात भर मोरा पिहकें बैरन नींद ना आए' जैसे गीतों के रचयिता रामदरश मिश्र प्रकृति से अपनत्व महसूस करते थे। गुजरात में अहमदाबाद में साबरमती नदी के निकट प्रकृति के सान्नायिका में रहते थे। उनके निकट पक्षी हों, बादल हों, प्रेम की बात हो, प्रसन्नता की बात हो तो

क्या ही कहना। उनका कवि मन इन्हीं को अपनी रचनाओं के केंद्र में रखता रहा है। डॉ चौधरी ने कहा कि नौकरी के दौरान उन्होंने अनेक संघर्ष भी किया, अनेक कष्ट उठाए लेकिन गुजरात में उन्हें बहुत कुछ दिया और आज वह हिंदी साहित्य में अपनी पूरी प्रतिष्ठा के साथ स्थापित है। सैकड़ों कृतियों के लेखक हैं। और आज भी लेखन में सक्रिय हैं।

कवि कथाकार उपन्यासकार आलोचक और गद्यकार प्रो. रामदरश मिश्र की जन्मशताब्दी वर्ष के दौरान देश का यह तीसरा सबसे बड़ा आयोजन है जिसकी अध्यक्षता हिंदी और गुजराती के जाने माने लेखक और भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त लेखक डॉक्टर रघुवीर चौधरी ने की। रामदरश मिश्र बीएचयू वाराणसी से गुजरात आए थे तथा अहमदाबाद, बड़ौदा और नवसारी जगहों पर १९६४ के पूर्व ८ साल अध्यापन कर चुके हैं और यहां रहते हुए ही उन्होंने अपने जीवन का महत्वपूर्ण शुरुआती लेखन किया। गुजरात से उन्हें अपार प्यार मिला जिसका परिणाम है उनका बेहतरीन उपन्यास 'दूसरा घर'। दिल्ली से पधारे डॉ. ओम निश्चल, डॉ. स्मिता मिश्रा के अलावा गुजरात की विभिन्न साहित्यिक संस्थाओं के विद्वान लेखकों की कार्यक्रम में सहभागिता रही।

इस अवसर पर अपने बीज वक्तव्य में हिंदी के सुपरिचित कवि आलोचक डॉ ओम निश्चल ने राम दरश मिश्र के कृतित्व और व्यक्तित्व का परिचय देते हुए उनकी सुदीर्घ साहित्यिक यात्रा को रेखांकित किया तथा कविता कथा उपन्यास और गद्य के विभिन्न क्षेत्रों में उनकी व्याप्ति और बहुआयामी लेखन की विशेषताएं उजागर की। उनकी रचनाओं से उदाहरण देते हुए उन्होंने राम दरश जी के कवि व्यक्तित्व की खूबियां

बताई। उन्होंने कहा की राम दरश जी ने किसी एक विधा तक अपने को सीमित नहीं किया बल्कि अभिव्यक्ति के जितने क्षेत्र और जितनी विविधताएं हो सकती हैं, उनका वरण किया और आजादी के बाद के मोहभंग की स्थितियों को रेणु के उपन्यास 'मैला आंचल' की तरह अपने शुरुआती उपन्यासों 'जल टूटा हुआ' और 'पानी के प्राचीर' में केंद्र में रखा। अनेक छोटे बड़े उपन्यासों में उन्होंने जीवन और समाज की समस्याओं को उठाया और अनेक चरित्रों के साथ सह यात्राएं कीं। आखिरी कुछ उपन्यासों में उन्होंने अपनी पत्नी, अपने बेटे और स्वयं को केंद्र में रखा है। ओम निश्चल ने इस अवसर पर उनके प्रसिद्ध गीत --पथ सूना है, तुम हो हम है, आओ बात करें /साथ सफर की घड़ियां कम है आओ बात करें' गाकर सुनाया जिस पर पूरा सभागार आह्लादित हो उठा

उद्घाटन सत्र में विशिष्ट अतिथि के रूप में बोलती हुई राम दरश मिश्र की सुपुत्री और दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रोफेसर मीडिया विद डॉ स्मिता मिश्रा ने कहा कि राम दरश मिश्र जी का लेखन गांव देहात और आंचलिक यथार्थ का लेखन है तथा उन्होंने कविता और कथा क्षेत्र में एक साथ प्रवेश किया और अपने जीवन में बेहतरीन गीत लिखे। उन्होंने गजलों की भी एक लंबी पारी खेली और हिंदी संसार को अनेक गजल संग्रह दिए। स्मिता मिश्र ने राम दरश मिश्र जी को एक पिता के रूप में भी चित्रित किया तथा कहा कि वास्तव में उन्होंने स्त्री पात्रों को और स्त्रियों को अपने जीवन में भी बहुत महत्व दिया है जिसकी वे साक्षी रही हैं। यही कारण है कि उनके कथा साहित्य में स्त्री पात्र बहुत दृढ़ और साहसी हैं।

कथा सत्र की अध्यक्षता करते हुए प्रो. स्मिता मिश्र ने राम दरश जी की किस्सागोई की अनेक खूबियां का बखान किया इस सत्र में के वक्ताओं डॉ मृदुला पारीक, डॉ रामगोपाल सिंह, एवं डॉ ज्योति दवे ने रामदरश मिश्र की कहानियों की बारीक विशेषताओं का विश्लेषण किया। डॉ रामगोपाल सिंह ने उनके भाषिक व्यवहार पर एक व्यवस्थित पर्चा पढा तथा यह कहा कि आम बोलचाल के जितने संभव मुहावरे और प्रयोग हो सकते हैं आंचलिकता के और आंचलिक भाषा के भी, वे बहुत सारे प्रयोग राम दरश जी के रचना संसार में मौजूद हैं जो उनके कथा साहित्य को और रचना संसार को पठनीय बनाते हैं। इस सत्र का संचालन डॉ शिरीन शेख ने किया। रामदरश मिश्र की कविता एवं आत्मकथा विषयक सत्र के वक्ताक थे डॉ नियाज पठान, एवं डॉ ईश्वर सिंह

चौहानतथा अध्यक्षता डॉ के के वैष्णव ने की। इस सत्र का संचालन डॉ तृप्तिव भावसार ने किया। इसी के साथ चले समानांतर सत्र में डॉ सुरेशपटेल एवं डॉ राजेंद्र परमार ने मिश्र जी के साहित्यिक अवदान पर शोध पत्रों का वाचन किया।

पूरे दिन विभिन्न सत्रों में चली इस चर्चा संगोष्ठी में राम दरश जी के रचनात्मक अवदान के अनेक आयामों को रेखांकित किया गया। गोष्ठी में एक सत्र 'अपने-अपने राम दरश मिश्र' भी रखा गया जिसमें गुजरात के अनेक विद्वानों डॉ ओम प्रकाश गुप्तो, डॉ वीरेंद्रनारायण सिंह, डॉ अरुणेंद्र सिंह राठौर, डॉ अनूपा चौहान, डॉ ममता शर्मा, श्री जयेंद्र त्रिपाठी, डॉ.आशा सिंह सिकरवार, डॉ रमेशबहादुर सिंह, ने उनसे जुड़े अपने-अपने संस्मरण सुनाए तथा उन्हें भावभीने ढंग से याद किया। इस सत्र का संचालन डॉ मीना बंजारा ने किया। तथा आभार ज्ञापन डॉ बिनुभाईजी चौधरी ने।

प्रारंभ में डा गोवर्धन बंजारा अध्यक्ष हिंदी विभाग, एच के आर्ट्स कालेज ने संगोष्ठी की प्रासंगिकता और आवश्यकता की चर्चा की तथा बताया कि यह पूरे गुजरात का सौभाग्य है कि वह शताब्दी वर्ष में शब्दों के चितरे अनूठे कवि कथाकार को याद कर रहा है। एच के आर्ट्स कॉलेज अहमदाबाद के मुख्य व्यक्तव्यस्थापक श्री धीरेन अवसिया ने अपने स्वागत वक्तव्य में आगत विद्वानों का स्वागत किया तथा साहित्यिक परिवार की ओर से अतिथियों का शाल और पुस्तक से स्वागत किया गया। इस अवसर में २५ विद्वानों को साहित्य परिवार की ओर से सम्मानित भी किया गया। डा स्मिता मिश्र ने समारोह के अध्यक्ष डा रघुवीर चौधरी को स्वयं संपादित "रामदरश मिश्र : एक शिनाख्त" और डा ओम निश्चल ने अपनी पुस्तकें "राम दरश मिश्र : जीवन और साहित्य" और "रामदरश मिश्र: प्रतिनिधि कविताएं" भेंट कीं। समारोह को प्रारंभ में संगोष्ठीज के संयोजक डॉ सूर्यदीन यादव, डॉ जयवंत सिंह सरवैया, डॉ धरम सिंह देसाई एवं डॉ धीरज वणकर ने संबोधित किया। रामदरश मिश्र के ऊपर दशाधिक पुस्तकों के लेखक व संगोष्ठी के संयोजक डॉ सूर्यदीन यादव ने संगोष्ठी को सार्थक बनाने के लिए विद्वान वक्ताओं के प्रति आभार व्यक्त किया तथा बताया कि वे साहित्य परिवार पत्रिका की ओर से हर साल ऐसी संगोष्ठी का आयोजन करेंगे।

संपादकीय

प्रोफेसर रामदरश मिश्र वर्तमान समय में विश्व हिंदी जगत का सबसे बड़ा नाम है। आपकी आयु १०० वर्ष होने वाली है। इनके शिष्य और शिष्य के शिष्य भी बड़े-बड़े विद्वान हैं। इनके एक शिष्य डॉ रघुवीर चौधरी तो ज्ञानपीठ विजेता हैं।

लगभग सभी विधाओं में प्रोफेसर रामदास मिश्र का काम अब्दुत है। हमारे गुरु श्री प्रताप सहगल के गुरु साहित्य अकादमी और सरस्वती सम्मान से सम्मानित प्रोफेसर रामदास मिश्र का व्यक्तित्व बहुत ही धनी है।

हमने अपनी मासिक पत्रिका साहित्य मेघ में श्री रामदास मिश्र पर कुछ विशेष प्रकाशित करने का एक मकसद या भी है कि नई नस्ल भी उनकी साहित्य सेवा को जाने और उनके पथ पर चलकर अपने मार्ग को उज्ज्वल बनाएं।

प्रोफेसर रामदास मिश्र हमारी इस मासिक पत्रिका के संरक्षक भी हैं जो हमारे लिए बड़े ही गर्व की बात है। हम प्रोफेसर रामदास मिश्र के अच्छे स्वास्थ्य और दीर्घायु की दिल से कामना करते हैं।

दानिश